प्रेमचन्द और उनका युग

[महान् उपन्यासकार के जीवन, व्यक्तित्व और साहित्य का सरल एवं सर्वाङ्गीण अध्ययन]

लेखक

डॉ० रामविलास शर्मा

एम०ए०, पी-एच० डी०,

प्रकाशक

मेहरचन्द मुन्शीराम

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

१०-बी०, फैज बाजार, दिल्ली ।

प्रकाशक :
मनोहरलाल जैन
अध्यक्ष, मेहरचन्द मुन्शीराम
१०-बी, फैज बाजार,
दिल्ली ।

मूल्य : तीन रुपया
प्रथम संस्करण : १९५२

मुद्रक :
नैशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१० दरियागंज,
दिल्ली ।

भूमिका

'हंस' के 'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' में श्री चन्द्रहासन ने लिखा था—"प्रेमचन्दजी का स्वर्गवास उत्तर के हिंदी-भाषियों को उतना न खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिंदी-प्रेमियों को ।"

इस बार की दक्षिण-यात्रा में इस सत्य का कुछ अनुभव मुझे भी हुआ। मद्रास में एक रात अपने घर की सीढ़ियों पर बैठे हुए एक तेलुगु-कवि-मित्र ने प्रेमचन्द की एक कहानी से गद्य का रस लेते हुए लगभग एक पैराग्राफ़ सुना डाला। उन्हें प्रेमचन्द के, न जाने ऐसे कितने पैराग्राफ़ कंठस्थ थे। दक्षिण में जहाँ भी लोग हिंदी जानते थे, प्रेमचन्द को भी जानते थे। कहीं-कही जो लोग हिंदी न भी जानते थे, वे अपनी भाषा के माध्यम से प्रेमचन्द को जानते थे। तुलसीदास के बाद हिंदी में यह पहला इतना बड़ा कलाकार पैदा हुआ था जिसकी रचनाएँ अपनी ही भाषा के क्षेत्र में नहीं, सुदूर दक्षिण के गाँवों में भी पहुँच गई थीं। 'हंस' के उसी अंक में मद्रास के हिंदी-प्रचारक श्री ब्रजनन्दन शर्मा ने लिखा है—"मैं यह निस्संकोच होकर कह सकता हूँ कि प्रेमचन्द जी का उपयोग दक्षिण में ज़्यादा हुआ है। पर हिंदी-भाषी जनता ने अभी तक प्रेमचन्द जी से पूरा लाभ नहीं उठाया है।"

तेनकाशी के पास जब सुन्दर झरनों के नज़दीक एक हिंदी-लेखक-बन्धु से साहित्य-चर्चा हो रही थी, तब यह सुनने को मिला कि प्रेमचन्द ने विषय-वस्तु में ज़रूर ऊँची चीज़ दी है लेकिन कला की दृष्टि से वह "थर्ड रेट" थे!

ब्रजनन्दन जी ने कुछ झूठ न लिखा था कि हिंदी-भाषी जनता ने प्रेमचन्द जी से पूरा लाभ नहीं उठाया। बल्कि जनता ने तो लाभ उठाया है, हिंदी-लेखकों ने लाभ नहीं उठाया। लाभ उठाने का प्रमाण यह होना चाहिए कि हमने प्रेमचन्द की स्वस्थ परम्परा का अनुसरण किया हो, उसे आगे

बढ़ाया हा। लेकिन कितने लेखकों ने उस परम्परा को पहचाना है, उसे हिंदी-साहित्य की मूल्यवान विरासत समझा है? हिंदी के अनेक महान् कथाकारों को चीर-हरण से फ़ुरसत न मिली; वह अन्तस्तल की निगूढ़ भावनाओं का चित्रण करने में हिंदुस्तान की जनता के दु:ख-दर्द को भूल गए।

'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' में एक हिंदी-आलोचक ने लिखा था—"रवि बाबू और शरत् बाबू से तुलना करने में यदि प्रेमचन्द कुछ हल्के उतरते हैं तो यह प्रेमचन्द अथवा हिंदी की कोई मान-हानि नहीं। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण जग और किसानों का हृदय है। यहाँ वे अद्वितीय हैं। किंतु भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरत् बाबू पैठते हैं, वह अभी प्रेमचन्द की सीमा से बाहर थी।"

आश्चर्य की बात है कि किसान-जीवन के अद्वितीय चित्रकार होते हुए भी प्रेमचन्द में भावों की वह गहराई न आ पाई जो एक चोटी के कलाकार में मिलती है। लेकिन बच्चन और अज्ञेय को क्रांतिकारी कलाकार मानने वाले आलोचकों से यह आशा भी कैसे की जा सकती है कि वह प्रेमचन्द के भावों की गहराई तक पैठेंगे।

एक दूसरे हिंदी-आलोचक ने लिखा—"जीवन की वे बुनियादी शक्तियाँ, जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिए काम कर रही हैं, मौजूदा समाज के ह्रास और जन-क्रांति की अनिवार्यता की जड़ें जमाने वाली कोई संगठित योजना वे नहीं दे सके।" यह आलोचक उपन्यासकार भी हैं। उन्होंने संगठित योजनाओं और काम शास्त्र का अपूर्व समन्वय किया है!

एक दूसरे समालोचक-उपन्यासकार ने लिखा है—"प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया, पर अव्यक्त में जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे, वह यों भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाये।" काश, इन महोदय ने कम-से-कम ज़बान लिखना ही प्रेमचन्द से सीख लिया होता!

'हंस' में कुछ साल पहले एक लेख निकला था, 'प्रेमचन्द से पाँच सौ कदम आगे' (मुमकिन है, हज़ार कदम रहे हों, ठीक याद नहीं), उसमें लेखकों की एक लम्बी पाँत गिनाई गई थी जो प्रेमचन्द से आगे भागती चली जा रही थी। जहाँ तक याद है, उस पाँत में उस लेख के लेखक और पत्र के (उस समय के) सम्पादक भी शामिल थे!

प्रेमचन्द से जिस चीज़ को हिंदी के इन दिग्गज आलोचकों और कलाकारों ने नहीं सीखा, वह यह कि जनता कला का स्रोत है और उससे अलग रहकर महान् साहित्य की रचना नहीं की जा सकती।

जनता से अलग रहकर ये कलाकार महान् उपन्यास लिखते रहे हैं और अगर जनता ने उन्हें प्रेमचन्द की तरह सम्मानित नहीं किया तो इसमें क़सूर जनता का है! प्रेमचन्द के साहित्य की परख समालोचक की राजनीतिक सूझ-बूझ और उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परख है। टिटिहरी समुद्र की गहराई को नहीं नाप सकती। उसके लिए समुद्र क्या है? नीला-नीला पानी जिसमें कहीं-कहीं लहरें उठती हैं वरन समतल! प्रेमचन्द का महत्त्व दिन-पर-दिन निखरेगा और उसको हम उतना ही ज्यादा समझेंगे जितनी ज़्यादा गहराई हिंदुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन में आयगी और उस आन्दोलन से आलोचक का सम्बन्ध दृढ़ होगा। सोवियत आलोचक ब्रेस्कोव्नी ने उचित गर्व से कहा है—"यह बात बिलकुल साफ़ है और उसका कारण भी सब जानते हैं कि इस भारतीय लेखक को बहुत दिनों तक उसका प्राप्य नहीं मिलेगा, जो कि उसे अपनी महान् साहित्यिक परम्परा के लिए मिलना चाहिए। सिर्फ़ हमारे देश में, जो कि देशों के बीच सच्चे सहयोग और भाईचारे का देश है, जिसने लेनिन और स्तालिन की जातियों-सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप एक खुशहाल ज़िन्दगी को हासिल कर लिया है, प्रेमचन्द का सही गम्भीर अध्ययन किया जा सकता है।"

प्रेमचन्द उन लेखकों में से हैं जिनकी रचनाओं में से बाहर के साहित्य-प्रेमी हिंदुस्तान को पहचानते हैं। उन्होंने हिंदुस्तान के राष्ट्रीय सम्मान को बढ़ाया है; हमारे देश को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव दिया है। प्रेमचन्द पर

मारा हिंदुस्तान गर्व करता है, दुनिया की शान्ति-प्रेमी जनता गर्व करती है, सोवियत-संघ के आलोचक मुक्त कंठ से उनका महत्त्व घोषित करते हैं, हम हिंदी-भाषी प्रदेश के लोग उन पर खास तौर से गर्व करते हैं, क्योंकि वह सबसे पहले हमारे थे, जिन विशेषताओं को उन्होंने अपने कथा-साहित्य में झलकाया है, वह हमारी जनता की जातीय विशेषताएँ थीं।

हिंदी-साहित्य में आज जो समस्याएँ उठ रही हैं, उन्हें हल करने में प्रेमचन्द का अध्ययन बड़ी सहायता करता है।

शान्ति-आन्दोलन में आज के साहित्यकार को वैसे ही सत्य के पक्ष का समर्थन करना है, वैसे ही साम्राज्यवादी झूठ का भंडाफोड़ करना है, अपने पड़ोसी देशों से भाई-चारा क़ायम करना है, जैसे प्रेमचन्द ने किया था।

स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ आज के साहित्यकार को वैसे ही सम्बन्ध जोड़ना है, अपने साहित्य के उद्देश्य को वैसे ही घोषित करना है, उसके लिए वैसे ही कर्म-क्षेत्र में आगे बढ़ना है, जैसे प्रेमचन्द जी बढ़े थे।

साहित्यकार सामयिक समस्याओं पर लिखे या शाश्वत सत्य को अपनी विषय-वस्तु बनाये, इस मसले को आज के साहित्यकार को वैसे ही हल करना है जैसे प्रेमचन्द ने उसे 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में हल किया था।

साहित्यकार किसी की तरफ़दारी करे या तटस्थ रहे इस समस्या को आज का लेखक जनता की वैसे ही तरफ़दारी करके हल कर सकता है जैसे 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचन्द ने जनता की तरफ़दारी करके उसे हल किया था।

कला जनता के लिए हो या कला कला के लिए, इस समस्या को आज कलाकार वैसे ही हल कर सकता है जैसे प्रेमचन्द ने उसे अपने समूचे साहित्य से हल किया था।

हिंदी और उर्दू एक भाषा हैं या दो, ये आगे चलकर एक होंगी या अलग-अलग ढर्रों पर ही चलती रहेंगी, इस मसले को आज के लेखक सिर्फ़ उस तरीक़े से हल कर सकते हैं जिस तरीक़े पर प्रेमचन्द ने अपने भाषणों

में और अमल से उसे हल करने की कोशिश की थी।

प्रेमचन्द ने फासिस्ट जंगबाज़ों का विरोध करने के विश्व-शान्ति के पक्ष को मज़बूत किया। वह पहले लेखक थे जिन्होंने दिखलाया कि हिंदुस्तान पर हुकूमत करने के लिए साम्राज्यवाद का मुख्य अस्त्र आतंक है। वह पहले लेखक थे जिन्होंने दिखलाया कि हिंदुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन की रीढ़ यहाँ का किसान-आन्दोलन है। वह पहले लेखक थे जिन्होंने जन-साधारण की शूरता, धीरता, त्याग और बलिदान के सद्‌गुणों का चित्रण करके हिंदी-साहित्य को वास्तविक जीवन के 'हीरो' दिये। प्रेमचन्द हिंदुस्तानी क़ौम की भीतरी एकता क़ायम करने वाली एक ज़बरदस्त ताक़त थे; इस क़ौम को तोड़ने वालों के वह सबसे बड़े दुश्मन थे। वह जाति को पतन के गड्ढे में ढकेलने वाले साहित्य के प्रखर समालोचक थे; वह हिंदुस्तानी जनता के नये सांस्कृतिक जागरण को प्रकट करने वाले प्रगतिशील साहित्य के अलम्बरदार थे। प्रेमचन्द निकट भविष्य में एक नये हिंदुस्तान की एकता और जन-संस्कृति के महान् प्रेरणादायक स्रोत बनने वाले हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य हमें सिखलाता है कि किस तरह क्रांतिकारी लफ़्फ़ाजी से बचकर सीधे-सादे ढंग से जनता की सेवा करने वाला साहित्य रचा जा सकता है। इसी महीने की एक हिंदी पत्रिका में एक लेख देखने को मिला जिसमें प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले एक हिंदी-कलाकार की रचनाओं की दाद दी गई है। एक उद्धरण पर नज़र अटक गई: "वह नई रंगारंग सुबह मुझसे, तुमसे, हर एक आदमी से कह रही है कि मुझे तुम्हारे दिल का खून चाहिए, मुझे अपने उस धड़कते हुए दिल का खून दो जहाँ पर गोली लगी, अपने सिर का खून दो जहाँ पर गोली लगी, अपने सिर का खून दो जिस पर लोहे के कुंदे बरसे हैं, अपने कटे हुए हाथों और पैरों का खून दो जिन्हें कासिम रिज़वी के रज़ाकारों ने काट डाला है, अपनी लहू-लुहान अंगुलियों का खून दो, जिनके नाखूनों में ज़ालिम ने खजूर के काँटे चुभोये हैं, अपनी आँख के सूने कोरों का खून दो, जिनका

मानिक अब किसी नौलखा हार में जड़ दिया गया हो, क्योंकि अब तो वह भी महज एक पत्थर है·········खून दो, खून दो, खून दोगे तभी उस रंगीन सुबह के आने पर कह सकोगे कि उसमें तुम्हारा दिया हुआ रंग भी शामिल है।"

इस उद्धरण में खून कुछ कम होता और जनता की यथार्थ तस्वीर की झलक कुछ ज्यादा होती तो उसका लेखक प्रेमचन्द की परम्परा से इतनी दूर न होता। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने अमरकान्त को क्रांति का ऐसा भक्त दिखलाया है कि उसका ओढ़ना-बिछाना, खाना-पीना सब क्रांतिमय हो गया है। लेकिन मौके पर वह किसान-नेता आत्मानन्द को गिरफ्तार कराने से नहीं झिझकता। यह इन्कलाबवाद एक बीमारी है जो लेखक के जनता से अलगाव को शब्दों की आतिशबाजी से ढकने की कोशिश करती है।

प्रेमचन्द का साहित्य साम्राज्यवादियों के फैलाये हुए भ्रमों को छिन्न-भिन्न कर देता है। समाज पीछे, व्यक्ति पहले, सोवियत रूस में व्यक्ति को आजादी नहीं है; हत्या और लूट का साहित्य जनवादी है; साहित्य का कोई जातीय या राष्ट्रीय रूप नहीं होता; जिनाकारी का वर्णन मनोवैज्ञानिक साहित्य है; कलाकार को जीवन-संग्राम से तटस्थ रहना चाहिए—हिंदी के पत्रों में इस तरह की धारणाओं को जो प्रश्रय मिलता है, प्रेमचन्द का साहित्य उसका ध्वंस करता है।

प्रेमचन्द का साहित्य अपने जमाने के हिंदुस्तान और उसके स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रतिबिम्ब है। उसमें उस जमाने के सामाजिक जीवन की और स्वाधीनता-आन्दोलन की असंगतियाँ भी झलकती हैं। सोवियत आलोचक ब्रेस्कोन्वी के शब्दों में—"प्रेमचन्द यह नहीं देखते कि मजदूर वर्ग वह अकेली शक्ति है जो कष्ट पाती हुई किसान जनता को मुक्त कर सकती है। तो भी इतना जरूर है कि जब वे किसान-परिवारों के टूटने को चित्रित करते हैं और दिखलाते हैं कि आर्थिक शक्तियाँ किस प्रकार उनको सम्नुभूति-शून्य नगरों में जाने के लिए बाध्य करती हैं, उस समय लेखक

मज़दूर वर्ग से हमदर्दी प्रकट करता है, क्योंकि वह मज़दूर वर्ग में ग़रीबी और मज़दूरी का रास्ता पकड़ने के लिए मजबूर किसान को ही देखता है।"

आज की राजनीति में मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में जनता के साम्राज्य-वादी संयुक्त मोर्चे का बनना, मज़दूरों और किसानों की एकता का दृढ़ होना देश की प्रगति में एक बहुत बड़ी मंज़िल की फ़तह होगी। इसलिए प्रेमचन्द के युग और उनके साहित्य में जो असंगति मिलती है, उसे नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। ब्रेस्कोन्वी के लेख को छापते हुए एक हिंदी-सम्पादक ने टिप्पणी देते हुए लिखा है—"इस लेख में आलोचक ने मुख्य रूप से प्रेमचन्द की आरम्भिक कृतियों—जैसे प्रेमाश्रम, सेवा सदन, संग्राम को आधार बनाया है। उनके विश्लेषण से आलोचक ने बड़ी गहरी पैठ से यह तो बतलाया है कि प्रेमचन्द के विचारों की दिशा क्या थी; लेकिन उस दिशा में उनकी प्रगति के सीमान्त क्या थे, यह आलोचक नहीं बतला सका है और वह उनकी बाद की कृतियों—जैसे 'ग़बन', 'गोदान', 'कर्मभमि', 'मंगल सूत्र', 'मानसरोवर' आदि पर भी विचार किये बिना सम्भव नहीं है। हो सकता है आलोचक को बाद की कई पुस्तकें उपलब्ध न हुई हों। बहरहाल प्रेमचन्द पर विचार करने की एक ऐतिहासिक दृष्टि आलोचक ने दी है जिसका प्रेमचन्द के अध्येताओं के लिए बड़ा महत्त्व है। उससे यह भी पता चलता है कि सोवियत के साहित्य-प्रेमी किस प्रकार प्रेमचन्द की ओर झुक रहे हैं।"

ब्रेस्कोन्वी ने अपने लेख में 'रंगभूमि' का जिक्र किया है, उससे उद्धरण भी दिया है। 'गोदान' और 'मंगल-सूत्र' के बारे में उन्होंने खास तौर से लिखा है—"अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में ही आकर प्रेमचन्द ने गाय की ज़िन्दगी को पहले-जैसा बढ़ा-चढ़ाकर, उसका गुणा-नुवाद करते हुए चित्रण नहीं किया है जैसा कि वे पहले शहर की ज़िन्दगी की बुराइयों की पृष्ठभूमि में किया करते थे। अपने अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास 'मंगल सूत्र' में उन्होंने शहर की ज़िन्दगी की बड़ी भयानक तस्वीर खींची है। भारतीय आलोचक इस उपन्यास को क्रांति की पुकार के रूप

में देखते हैं।"

इससे साफ़ जाहिर है कि ब्रेस्कोन्वी प्रेमचन्द की अन्तिम रचनाओं से अपरिचित नहीं हैं। सम्पादक ने शायद उनके लेख को सरसरी निगाह से देखकर ही उस पर नोट लिख दिया था। मुख्य बात यह कि प्रेमचन्द में मज़दूर वर्ग के नेतृत्व की भूमिका के बारे में एक असंगति है और जो लेखक उससे इन्कार करते हैं, वे प्रेमचन्द या हिंदी जनता का कोई उपकार नहीं करते।

प्रेमचन्द की परम्परा को 'अलका', 'कुल्ली भाट,' 'बिल्लेसुर बकरिहा' के निराला ने अपनाया। उसे 'चकल्लस' और 'क्या-से-क्या' आदि कहानियों के लेखक पढ़ीस ने अपनाया। उस परम्परा की झलक नरेंद्र-शर्मा, अमृतलाल नागर आदि की कहानियों और रेखाचित्रों में मिलती है। जैनेंद्रकुमार, अज्ञेय, अश्क, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा आदि के कथा-साहित्य का उस परम्परा से काफ़ी फ़ासला है।

मौजूदा पुस्तक में प्रेमचन्द की मुख्य-मुख्य रचनाओं की ही विवेचना की गई है। यह पुस्तक प्रेमचन्द पर मेरी पहली पुस्तक से बिलकुल भिन्न है। मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन पर यह मेरी आखिरी पुस्तक होगी।

हिन्दी-उर्दू में खोज करने वाले विद्यार्थियों से एक विशेष निवेदन है कि वे प्रेमचन्द के खतों को इकट्ठा करने की जिम्मेदारी लें और पत्रिकाओं में उनके जो लेख बिखरे पड़े हों उन्हें भी एकत्र करें। इससे प्रेमचन्द-साहित्य के अध्ययन में सहायता मिलेगी।

प्रेमचन्द हिंदुस्तानी जनता के उज्ज्वल भविष्य की पेशगी थे। हिंदी-लेखक उस उज्ज्वल भविष्य को लाने में सहायक हों, हमारी संस्कृति और कला प्रेमचन्द की जातीय परम्परा का अनुसरण करती हुई फले-फूले, इस पुस्तक को लिखने का यही उद्देश्य है।

आगरा
विजयादशमी
संवत् २००९ वि०

—रामविलास शर्मा

क्रम

प्रेमचन्द
श्रौर
उनका युग

प्रेमचन्द का जीवन

प्रेमचन्द हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब संसार पर पहले महा युद्ध के बादल मँडरा रहे थे। जब मौत ने उनके हाथ से कलम छीन ली, तब दूसरे महायुद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं। इस बीच विश्व-मानव-संस्कृति में बहुत से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से हिन्दुस्तान भी प्रभावित हुआ और उसने उन परिवर्तनों में सहायता भी की। विराट् मानव-संस्कृति की धारा में भारतीय जन-संस्कृति की गंगा ने जो कुछ दिया, उसके प्रमाण प्रेमचन्द के लगभग एक दर्जन उपन्यास और कहानियाँ हैं।

करोड़ों मनुष्यों का संहार करने वाले दो महायुद्धों के बीच प्रेमचन्द की वाणी अपने भविष्य में अटल विश्वास रखने वाली भारतीय जनता की वाणी है। राजनीतिज्ञों के कोलाहल और तोपों की गड़गड़ाहट को भेदती हुई वह वाणी आज और भी स्पष्ट सुनाई देती है। तमाम कठिनाइयों और बाधाओं को पार करती हुई भारतीय जनता से प्रेमचन्द कहते हैं—"यह अन्त नहीं है; और आगे बढ़ो, और आगे बढ़ो जब तक कि रंगभूमि में विजय न हो, जब तक कि देश का कायाकल्प न हो, जब तक कि इस कर्मभूमि में ग़बन और गोदान से होरी और रमानाथ का अन्त होना बन्द न हो और हमारा देश एक नई तरह का सेवा सदन, एक नई तरह का प्रेमाश्रम न बन जाय।"

आज से सत्तर-बहत्तर साल पहले सन् १८८० में बनारस के पास लमही गाँव में प्रेमचन्द एक किसान के घर पैदा हुए थे। बहुत से ग़रीब किसानों की तरह उनके पिता का गुज़ारा किसानी से न हुआ और उन्होंने नौकरी कर ली

जब प्रेमचन्द का जन्म हुआ, तब इनके पिता को बीस रुपये तनखाह मिलती थी। जब वह सात साल के थे, तभी उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। जब पन्द्रह साल के हुए तब उनकी शादी कर दी गई और सोलह साल के होने पर उनके पिता का भी देहान्त हो गया। जैसा कि लोग कहते हैं, लड़कों की यह उम्र खेलने-खाने की होती है लेकिन प्रेमचन्द को तभी से घर संभालने की चिन्ता करनी पड़ी। तब वह नवें दर्जे में पढ़ते थे और उनकी गृहस्थी में दो सौतेले भाई, सौतेली माँ और ख़ुद उनकी स्त्री थीं। क्रिया-कर्मों में साधारण आदमी को किस तरह ठगा जाता है, इसका कड़वा अनुभव प्रेमचन्द को लड़कपन ही में हो गया। सौतेली माँ का व्यवहार, बचपन की शादी, पंडे-पुरोहितों का कर्मकाण्ड, किसानों और क्लर्कों का दुखी जीवन—यह सब प्रेमचन्द ने सोलह साल की उम्र ही में देख लिया था। इसीलिए उनके ये अनुभव एक जबर्दस्त सचाई लिये हुए उनके कथा-साहित्य में झलक उठे थे।

उन दिनों नाज बीस सेर का था लेकिन तब के लिए यह महँगी थी। प्रेमचन्द गाँव में रहते थे; ट्यूशन करते थे। शहर पढ़ने जाते थे और पाँच मील वापस आकर रात को कुप्पी जलाकर ख़ुद पढ़ने बैठते थे। हाई स्कूल पास करने के बाद कॉलेज में वह तभी भर्ती हो सकते थे जब उनकी फीस माफ़ हो जाय और इसके लिये सिफ़ारिशों की ज़रूरत थी। इसी समय मेहनत से चूर होकर वह बीमार पड़ गए और दो हफ़्ते तक नीम का काढ़ा पीते रहे। बड़ी मुश्किल से कॉलेज में भर्ती हुए और जैसे-तैसे पढ़ाई जारी रखी, लेकिन हिसाब में दो बार फेल हुए। तब इंटरमीडिएट में गणित ऐच्छिक विषय न था।

प्रेमचन्द अब शहर में रहने लगे। पाँच रुपये का ट्यूशन किया। एक वकील के लड़के को पढ़ाते थे और उसीके अस्तबल के ऊपर एक कच्ची कोठरी में रहा करते थे। ख़ुद खाना पकाते थे, बर्तन धोते थे और उपन्यास पढ़ते थे। कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का चस्का उन्हें शायद पहले ही लग चुका था। श्री रघुपति सहाय 'फ़िराक' ने लिखा है कि उनकी दोस्ती अपने एक ऐसे सहपाठी से हो गई थी जिसका बाप तमाखू बेचता था। तमाखू के पिण्डों के

पीछे जमकर दोनों दोस्त हुक्का पीते थे और 'तिलिस्म होशरूबा' पढ़ते थे जिसे उर्दू का 'चन्द्रकान्ता' और 'भूतनाथ' समझना चाहिए। १३ साल की उम्र ही में प्रेमचन्द ने रतननाथ 'सरशार', मिरज़ा रुसवा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था। गोरखपुर के बुद्धिलाल बुकसेलर से कुंजियाँ और नोट्स लेकर वह अपने स्कूल के लड़कों को बेचा करते थे और इसके बदले उसकी दुकान पर उपन्यास पढ़ा करते थे। उर्दू में पुराणों के जो अनुवाद छपे थे, वह भी उन्होंने पढ़ डाले थे। प्रेमचन्द में पढ़ने का बेहद चाव था। पढ़ने के रास्ते में जितनी ही ज़्यादा कठिनाइयाँ आईं, उतना ही पढ़ने के लिए उनका चाव और बढ़ गया। वह कितना पढ़ते थे, इसका अन्दाज़ 'तिलिस्म होशरूबा' के आकार-प्रकार का ध्यान करने से लग जाता है। इसके बारे में उन्होंने खुद लिखा है—"इस वृहद् तिलिस्मी ग्रन्थ के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपर रायल के आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचासों भाग छप चुके थे।"
('मेरी पहली रचना')।

ये उपन्यास प्रेमचन्द के दुखी बचपन के साथी थे। वे मुसीबतों में उन्हें ढाढ़स बँधाते थे और कुछ देर के लिए उन्हें ट्यूशनों, सौतेली माँओं और महाजनों की दुनिया से दूर उठा ले जाते थे। इन्हें पढ़ने से उनकी कल्पना-शक्ति प्रखर हुई और खुद भी लिखने की उन्हें प्रेरणा मिली। लेकिन प्रेमचन्द ने 'तिलिस्मी होशरूबा' का रास्ता नहीं अपनाया। उनकी रचनाएँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास के कथा-साहित्य का अगला और स्वाभाविक कदम थीं।

स्कूल में पढ़ते हुए कर्ज़ लेने और महाजनों की निगाह बचाने का अनुभव भी प्रेमचन्द को हुआ। एक दर्ज़ी से कपड़े बनवाये थे। उसे दो-ढाई रुपये की रकम भुगताने में तीन साल लग गए। एक बेलदार उनसे हिन्दी पढ़ा करता था। उससे उन्होंने आठ आने पैसे उधार लिये थे, जो उसने पाँच साल बाद उनके गाँव पहुँचकर वसूल किए।

प्रेमचन्द ने बेलदार को हिन्दी पढ़ाने का ज़िक्र अपने स्कूली जीवन के सिलसिले में किया है जिससे मालूम होता है कि उन्होंने तब हिन्दी का अभ्यास भी कर लिया था। उनका वह जीवन हिन्दुस्तान के औसत गरीब विद्यार्थी का जीवन था। एक बार महाजन से उधार न मिलने पर सिर्फ़ रोटी का प्रबंध करने के लिए उन्हें अपनी किताबें तक बेचनी पड़ी थीं। इसका मार्मिक वर्णन उन्होंने इस तरह किया है—"जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था। संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया। एक चक्रवर्ती-गणित-कुंजी दो साल हुए खरीदी थी, अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक रुपये पर सौदा ठीक हुआ।"

('जीवन-सार')।

यह १९ वीं सदी का आखिरी साल था। किताब बेचते हुए उनकी मुलाक़ात एक मामूली स्कूल के हेडमास्टर से हो गई जिसने अठारह रुपये पर इन्हें अपने यहां मास्टर रख लिया। इस तरह प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी में प्रवेश किया।

१९०४ में उन्होंने उर्दू-हिन्दी में ओरियंटल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का स्पेशल वर्नाक्युलर इम्तहान पास किया। इसके बाद १९०५ में ट्रेनिंग कालेज से पढ़ाने की सनद पाई। उनके सर्टीफिकेट पर खास तौर से लिख दिया गया था कि वह हिसाब पढ़ाने के अयोग्य हैं—"Not qualified to teach Mathematics"। १९१० में उन्होंने अंग्रेज़ी, दर्शन, फ़ारसी और इतिहास लेकर इंटर किया और १९१९ में अंग्रेज़ी, फारसी और इतिहास लेकर बी. ए. किया। प्रेमचन्द को जहाँ वास्तविक शिक्षा मिली, वे विश्वविद्यालय दूसरे ही थे। उनके अध्यापक लमही के किसान, बनारस के महाजन और किताबों के नोट्स बिकवानेवाले बुकसेलर थे। उनकी टेक्स्ट-बुक वे सैंकड़ों उपन्यास थे जो उन्होंने लाइब्रेरियों, बुकसेलरों की दूकानों

और तमाखू वाले दोस्त के घर पर पढ़े थे। भले ही वह गणित पढ़ने के योग्य न रहे हों, वह हिन्दुस्तानी समाज का बीज गणित अच्छी तरह समझ गए थे और अपने उपन्यासों में बहुत से प्रश्न हल करने की तैयारी भी कर चुके थे।

प्रेमचन्द ने औसत गरीब विद्यार्थी की ज़िन्दगी देखी थी तो उन्होंने औसत गरीब अध्यापक की ज़िन्दगी को भी अच्छी तरह देखा।

गोरखपुर, कानपुर, बनारस आदि कई जगह रहकर प्रेमचन्द ने अध्यापक का काम किया। वह अपने में मस्त रहने वाले शिक्षक थे जो लड़कों से बेहद प्रेम करते थे और हेडमास्टरों, इन्स्पेक्टरों वगैरह की परवाह न करते थे। गोरखपुर के स्कूल में इन्स्पेक्टर के आने पर सभी लोग साफ़-सूट पहनकर आये थे, लेकिन अपने एक शिष्य के अनुसार प्रेमचन्द का हुलिया यह था—"नंगे सिर, बाल परेशान, कोट का कालर खुला हुआ।"

प्रेमचन्द ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब इन्स्पेक्टर की हैसियत से छः साल महोबे में बिताये और उसके बाद तीन साल तक उन्होंने बस्ती के सरकारी स्कूलों में मास्टरी की। इन दो जगहों का रहना उनके जीवन में काफ़ी महत्त्व रखता है। इस तरह उन्हें पूर्वी और पश्चिमी हिन्द प्रदेश का, जहाँ की जनता बेहद गरीब है, अच्छा ज्ञान हो गया। इसीलिए जब प्रेमचन्द पांडेपुर के किसानों का चित्रण करते हैं तो हम उनमें समूचे हिन्द प्रदेश के गरीब किसानों के दर्शन करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक की हैसियत से शुरू किया था। मुंशी दयानारायन निगम के अनुसार उन्होंने १९०५ में उर्दू पत्र 'ज़माना' के लिए एक आलोचनात्मक लेख भेजा था और उनकी राय जानने के लिए उन्हें एक उपन्यास का मसौदा भी भेजा था। प्रेमचन्द ने अपनी पहली रचनाओं के बारे में लिखा है कि १९०१ में उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू किया था। उनका एक उपन्यास १९०१ में प्रकाशित हुआ और दूसरा १९०४ में। प्रेमचन्द ने रवीन्द्रनाथ की कहानियों का अनुवाद भी किया था और खुद १९०७ से कहानियाँ लिखना शुरू किया। उनकी शुरू की कहानियाँ 'ज़माना' में छपीं।

प्रेमचन्द और उनका युग

प्रेमचन्द की पहली रचना, जो अप्रकाशित ही रही, शायद उनका वह नाटक थी जो उन्होंने अपने मामा जी के प्रेम और उस प्रेम के फलस्वरूप चमारों द्वारा उनकी पिटाई पर लिखा था। इसका ज़िक्र उन्होंने अपने 'पहली रचना' नाम के लेख में किया है।

यूरोप में जब पहले महायुद्ध की ज़ोरों से तैयारियाँ हो रही थीं, तभी प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह 'सोज़े वतन' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की पाँच कहानियों से अंग्रेज़ शासक घबरा उठे। वे जानते थे कि युद्ध की तैयारियों का असर हिन्दुस्तान पर क्या पड़ेगा। यहाँ के लोगों की ज़िदगी पर और भी तबाही बरपा होगी। नतीजा यह होगा कि यहाँ का स्वाधीनता-आन्दोलन और भी तेज़ी से आगे बढ़ेगा। अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए वे यहां के जन-आन्दोलन को ही नहीं कुचल देना चाहते थे, बल्कि उसकी अगुवाई करनेवाले साहित्य का भी गला घोंट देना चाहते थे। मुंशी दयानारायन निगम के शब्दों में "संकीर्ण हृदय अफसरों का बस चलता तो आज हिन्दुस्तानी साहित्य में प्रेमचन्द का वजूद ही न होता; मगर नदी का प्रवाह किसने रोका है?"

पहले महायुद्ध में कांग्रेस के नेताओं ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। महात्मा गान्धी ने रंगरूट भर्ती करने के लिए दिन को दिन और रात को रात नहीं गिना। लेकिन प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों से पहले ही असहयोग-आन्दोलन छेड़ दिया था। पुस्तक को छपे छः महीने भी न बीते थे कि एक दिन कलक्टर का बुलावा पाकर रात में ही ३०-४० मील का सफ़र बैलगाड़ी से तै करके प्रेमचन्द ने उनका सामना किया। अभी उनका नाम प्रेमचन्द न पड़ा था। असली नाम धनपतराय बदलकर वह नवाबराय के नाम से लिखते थे। खुफिया पुलिस ने असली लेखक का पता लगा लिया था। प्रेमचन्द को 'सोज़े वतन' की बाकी सभी प्रतियाँ मँगवाकर कलक्टर को देनी पड़ीं और उसने प्रेमचन्द पर यह पाबन्दी लगा दी कि उसकी आज्ञा के बिना वह कोई चीज न छपवायें। श्री रघुपतिसहाय 'फिराक़' के अनुसार 'सोज़े वतन' की पांच सौ प्रतियों में प्रेमचन्द को आग लगा देने पर मजबूर किया गया। दुनिया

भर में जनतंत्र की हिफ़ाज़त का ठेका लेने वाले अंग्रेज़ों ने इस तरह भारतीय जनता के सबसे बड़े लेखक की रचनाओं का स्वागत किया !

प्रेमचन्द ने अब नवाबराय नाम छोड़कर प्रेमचन्द नाम से लिखना शुरू किया। जो लोग उर्दू को विदेशी भाषा समझते हैं,उन्हें यह सुनकर दुःख होगा कि 'प्रेमचन्द', यह प्यारा नाम, उन्हें एक उर्दू लेखक और संपादक दयानारायन निगम ने दिया था ।

पाँच-छः साल में नवाबराय के नाम से प्रेमचन्द ने जो ख्याति पाई थी, वह समाप्त हो गई और उन्हें नये सिरे से, एक नया नाम लेकर, साहित्य के मैदान में उतरना पड़ा ।

युद्ध-काल ही में उन्होंने अपना पहला महान् उपन्यास 'सेवा सदन' लिखा और युद्ध खत्म होने पर 'प्रेमाश्रम' पूरा किया। जलियाँवाला बाग के हत्या-काण्ड और असहयोग-आन्दोलन छिड़ने पर प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ दी। यह बीस साल की सरकारी नौकरी थी जिस पर उन्होंने लात मारी थी। इससे कुछ ही साल पहले हिन्दी के एक दूसरे महान् लेखक बालकृष्ण भट्ट ने कॉलेज की प्रोफ़ेसरी से इस्तीफ़ा दिया था। लोकमान्य तिलक के कारावास के विरोध में प्रयाग में सभा हुई थी। बालकृष्ण भट्ट उसके सभापति थे। शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने उन्हें चेतावनी देने के लिए बुलाया। भट्ट जी ने बिना आगा-पीछा सोचे हुए नौकरी पर लात मार दी। यह घटना १९०७ की है । प्रेमचन्द ने भी हिन्दी-लेखकों की इस स्वाधीनता-प्रेमी परम्परा का अनुसरण किया।

कुछ दिन तक उन्होंने कानपुर के एक स्कूल में अध्यापन-कार्य किया; कुछ दिन तक काशी विद्यापीठ में। 'ज़माना' पत्र में वह सम्पादन-कार्य कर चुके थे। हिन्दी में 'मर्यादा', 'माधुरी', 'जागरण' आदि पत्रों का सम्पादन भी उन्होंने किया। १९२९-३० में वह 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। यद्यपि उनके समय की 'माधुरी' ने हिन्दी की अपूर्व सेवा की, फिर भी वह उसे राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ देनेवाली नये जनवादी विचारों की समर्थक पत्रिका न बना सकते थे। ऐसी पत्रिका को वह बहुत ज़रूरी

समझते थे; इसीलिए सन् '३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के शुरू होते-होते उन्होंने 'हंस' का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। इस तरह 'हंस' का जन्म स्वाधीनता-आन्दोलन की प्रगति के साथ हुआ और इसीलिए अंग्रेज़ हुकूमत की कोप-दृष्टि भी उस पर पड़ी। प्रेमचन्द किस बहादुरी से अपने प्रिय पत्र 'हंस' के लिए लड़े थे, इसका पता श्री जैनेन्द्रकुमार को लिखे हुए उनके एक पत्र से लगता है। उन्होंने लिखा था :—"'हंस' पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गए तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपया है, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज़ लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पांच सौ वी. पी. जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।"

(प्रेमचन्द-स्मृति-अंक, हंस, मई १९३७)।

सन् '३६ में 'हंस' से फिर ज़मानत मांगी गई। तब वह हिन्दी-साहित्य परिषद् की देख-रेख में निकलता था। परिषद् ने ज़मानत देने के बदले पत्र को बन्द कर देना ही अच्छा समझा। प्रेमचन्द ने बीमारी की हालत में भी ज़मानत देने का प्रबन्ध कराया और पत्र को ज़िन्दा रखा।

प्रेमचन्द ने 'हंस' को स्वाधीनता-संग्राम का एक सबल सैनिक बना दिया था। उनके जीवन की सबसे सुन्दर उमंगें इस पत्र के साथ जुड़ी हुई थीं। जैनेन्द्रकुमार जी के शब्दों में "'हंस' के समारंभ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।" (हंस, मई १९३७).

हाथ-पैर हिला सकने में भी असमर्थ जब प्रेमचन्द रोग-शय्या पर पड़े हुए जैनेन्द्र से अपने जीवन की अन्तिम रात में बातें कर रहे थे, तब भी उन्हें

अपने परिवार से ज़्यादा 'हंस' का ध्यान था।

"रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएं, अपनी अभिलाषाएँ, कुछ शब्दों से, और अधिक आँखों से, वह उस समय मुझ पर प्रकट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाए थी।···प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्दजी के प्राणों पर बोझ डालकर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा, नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी।"

(हंस, उप०)

'हंस' के भावी जीवन की कल्पना करते हुए प्रेमचन्द ने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की।

प्रेमचन्द बड़ी जीवट के आदमी थे। बिना उफ़ किये वह तकलीफें सह सकते थे।

मृत्यु-शय्या पर—"उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ़ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोलकर पड़े थे।" (जैनेन्द्रकुमार, उप०)

यही प्रेमचन्द कुप्रिन का उपन्यास 'यामा' पढ़ते-पढ़ते बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगे थे। वह एक अत्यन्त सहृदय और परदुःख-कातर व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन-भर कठिनाइयों का सामना किया, लेकिन अपने मन में उन्होंने कभी कटुता नहीं आने दी। उनके आँसू हृदय में छिपे रहते थे; तरल आँखों में हँसी नाचा करती थी। जिस किसी ने भी उनके संस्मरण लिखे हैं, उसने उनके क़हक़हों का जिक्र अवश्य किया है। प्रेमचन्द ने निराशावादी कवियों की तरह वेदना के गीत नहीं गाये। कठिनाइयों को चुनौती देते हुए उन्होंने उनका मुकाबला किया। मनुष्य में अटूट विश्वास—यह उनके हास्य का स्रोत था।

प्रेमचन्द और नवाबराय—इन नामों को लेकर सुदर्शन जी से उनकी बातचीत इस तरह हुई—

"आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया ?"

"नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ ?"

"बे-मुल्क नवाब भी होते हैं।"

"यह कहानी का नाम हो जाय तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला; जिसमें ठण्डक भी है, सन्तोष भी है।" (हंस, मई १९३७)।

प्रेमचन्द का नवाबराय नाम किस तरह छिना था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं, लेकिन अपनी मुसीबतों पर हँसते हुए उन्होंने 'नवाब' को निरर्थक ठहराया और 'प्रेम' की ठंडक और सन्तोष का अकाट्य तर्क पेश किया।

प्रेमचन्द का हास्य उनसे मिलने वाले को निःशस्त्र कर देता था—गर्व या संकोच जो भी अस्त्र उसके पास होता, उसे डालना पड़ता। श्री इलाचन्द्र जोशी ने किन्हीं बातों पर प्रेमचन्द का विरोध किया था। उनसे अपने मिलने का हाल जोशी जी ने यों लिखा है—"प्रारम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्द जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही संभव हुई थी।" (हंस, मई १९३७)।

पहले से अपरिचित एक सज्जन से वह यों मिले :—

"पता लगाकर शाम के वक्त उनके मकान पर पहुंचा। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खाँ-खूँ करने पर भी कोई नज़र न आया तो दरवाज़े पर गया और झाँककर भीतर कमरे में देखा। वहाँ एक आदमी, बड़ी-बड़ी मूँछों के कारण जिसका चेहरा छिपा-सा था, फ़र्श पर बैठकर एकाग्र चित्त से कुछ लिख रहा था। मैंने सोचा कि लेखक श्रेणी का कोई होगा और आगे बढ़कर बोला कि मैं श्रीयुत प्रेमचन्द जी से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने झट आँखें उठाकर आश्चर्य से मुझे निहारा, कलम रख दी और मुँह-भर हँसी भरते हुए बोले—'खड़े-खड़े क्या मुलाकात करेंगे ? बैठिए और मुलाकात

कीजिए।"....हमने करीब दो घंटे तक अनेक विषयों पर बातचीत की। ......ऐसी बे-तकल्लुफ़ी, ऐसी सादगी, ऐसी सरलता एकदम अप्रतीक्षित थी।" (श्री ए. चन्द्रहासन, 'हंस' मई १९३७)।

इस तरह प्रेमचन्द अपने अपरिचित प्रेमियों का संकोच दूर कर देते थे। काम में बुरी तरह व्यस्त होते हुए भी वह मिलने वालों के लिए, विशेषकर नये लेखकों के लिए, घंटों समय निकाल लेते थे। दक्षिण भारत से चन्द्रहासन आये हैं; लिखना छोड़कर दो घंटे उनसे बातों में गुज़ार दिये। जब तरुण लेखक जैनेन्द्रकुमार से मिले तो "सात बज गए, साढ़े सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था।....बातों का सिलसिला अभी और चलता लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहां से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है?

"प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—ज़रा दवा ले आऊँ जैनेन्द्र! देखो, बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।

"कहकर इतने जोर से क़हक़हा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे।" (उप०)

प्रेमचन्द को बातें करने का शौक नहीं था, लेकिन वह किसी भी लेखक और साहित्य-प्रेमी से ऐसे मिलते थे, जैसे कोई सगा मिला हो। बिरादरी का आदमी मिले, फिर जी खोलकर कोई लेखक बात न करे? यही बात प्रेमचन्द के समसामयिक निर्द्वंद कलाकार निराला में भी रही है, जो बातें करने के सिवा अपनी शक्ति-भर, और शक्ति के बाहर भी, साहित्य-प्रेमियों का सत्कार भी करते थे। एक पीड़ित जाति के लेखकों में ऐसा सुहृद्-भाव होना आवश्यक और स्वाभाविक दोनों है।

फ़िफ़्थ इयर के विद्यार्थी जनार्दन राय ने पहली ही बार उनके दर्शन किये थे लेकिन तभी—"मैंने कहानियाँ निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचन्द जी के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़कर वे कृतियाँ हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियाँ हाथ में लेकर उसे जाँच

पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे।" (उप०)

प्रेमचन्द से मिलने वालों ने जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें अक्सर इस बात का ज़िक्र मिलता है कि प्रेमचन्द बैठे लिख रहे थे। वह सबेरे तो लिखते ही थे, लेकिन काम आ पड़ने पर किसी भी वक़्त कलम चलाते रहते थे। सन् '३४ में जब सुदर्शन जी उनसे मिलने गये तब शाम हो गई थी और प्रेमचन्द लिखते जा रहे थे। लिखने में वह एक मज़दूर की तरह परिश्रम करते थे और जो लोग लिखना बन्द कर देते थे, उन्हें फटकारते भी थे। उन्होंने श्री जनार्दन राय से कहा था—"हिन्दी में आज हमें न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए, किसी की भी कामना करे बिना लिखता रहे।" (उप०)

इस दृढ़ निश्चय से प्रेमचन्द ने साहित्य-रचना की थी, इसलिए कि वह जानते थे कि भले ही धन और यश न मिले, उनके साहित्य से जनता का हित अवश्य होगा।

प्रेमचन्द पर जिसने भी लिखा है, उनकी सादगी की तारीफ़ किये बिना नहीं रहा। वह एक ऐसे लेखक थे जो हमेशा आगे बढ़ना चाहते थे और कितनी भी बड़ी सफलता पाने पर हाथ पर हाथ रखकर बैठना जिन्होंने सीखा न था। इसलिए उनमें एक महान् लेखक का आत्म-विश्वास था तो वैसी ही नम्रता भी। बनावट उन्हें छू न गई थी। जो भीतर थे, वही बाहर। मन, वचन, कर्म की एकता उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता थी। यही विशेषता उनके उपन्यासों के नायकों में भी मिलती है। जैसा उनका सीधा और सच्चा मन था, वैसा ही सरल उनका जीवन था।

मृत्यु से एक साल पहले जैनेन्द्रकुमार जी ने उन्हें नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे देखा था जहाँ होली खेलने वालों ने उन्हें रंग से तर कर दिया था। श्री बैजनाथ केडिया ने देखा था, बाहर बरामदे में चटाई पर बैठे कुछ लिख रहे हैं। किसी संस्था के बुलावे पर पटना पहुँचे तो वहाँ वाले सज्जन इन्हें पहचान न सके, क्योंकि उन्होंने जो चित्र उपन्यास-सम्राट् का बना रखा था, प्रेमचन्द उससे बिलकुल भिन्न थे। दूसरे दिन

मुलाकात होने पर उन सज्जन ने न पहचान पाने की अपनी बेबसी का ज़िक्र किया तो उन्होंने कहा—"जब तुम मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचन्द कहकर पुकारते। तो इससे मेरी इज़्ज़त थोड़े कम हो जाती।"

(उप० पृष्ठ ९५०)।

प्रेमचन्द नौजवानों के लेखक थे, नई पीढ़ी के लेखक थे। वह साहित्य के सौदागरों से दूर रहते थे; दिखावे और प्रदर्शन से घृणा थी। श्री शान्ति-प्रसाद वर्मा ने इस सिलसिले की एक मनोरंजक घटना का वर्णन किया है। उन्होंने नागपुर स्टेशन के पास प्रेमचन्द को धूप में खड़े तपते हुए देखा। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। प्रेमचन्द उसमें बुलाये गए थे। धूप में इसलिए खड़े थे कि दूसरी गाड़ी आने पर दूसरी सवारियों को भी बिठाकर शहर जायं; अकेले प्रेमचन्द को ले जाने से पैसे ज्यादा खर्च होते। इसके बाद एक दिन जब साहित्य-परिषद् के लिए सभापति न मिल रहा था तब किसी ने आकर कहा कि आप ही सभापति हो जाइए। प्रेमचन्द ने सप्रेम अस्वीकार कर दिया। (प्रेमचन्द : उनकी कृतियाँ और कला; १९४९; पृष्ठ १३४)

एक बार वह दिल्ली साहित्य-सम्मेलन गये थे। वहाँ पर लोगों को शब्दों पर और पदों के लिए झगड़ते देखकर उन्होंने जैनेन्द्रकुमार जी से कहीं ठंडी हवा खाने की इच्छा प्रकट की और सम्मेलन के कर्णधारों के लिए भी यह क्रिया लाभदायक बतलाई। भारतीय साहित्य-परिषद् के काम में उन्होंने काफी भाग लिया था लेकिन उससे भी उन्हें निराशा हुई, कारण कि जिस सेवा-भाव से प्रेमचन्द काम करते थे, शतरंज के खिलाड़ियों में उसका अभाव था। श्री आनन्द कौसल्यायन को उन्होंने भारतीय परिषद् के बारे में लिखा था—"क्या आप समझते हैं, अंग्रेज़ों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेज़ी में होती है, तो भारतीय परिषद् तो उसी का बच्चा है।" ('हंस', मई १९३७; पृष्ठ ८५९)।

हिन्दुस्तान के लेखकों के लिए अभी यह संभव नहीं है कि वे अपने मन का काम करें और उससे अपनी जीविका भी चलाते रहें। हिन्दी के बड़े-से-बड़े लेखकों और कलाकारों को ऐसा बेकार का काम करना पड़ा है जो उनकी

प्रतिभा के अयोग्य था, लेकिन जो उनकी जीविका के लिए अनिवार्य था। प्रेमचन्द को भी ऐसा ही काम करना पड़ा था जिसके बारे में उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा था—"काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।" (उप० पृष्ठ ७८३)। जब उपन्यास-सम्राट् की यह हालत थी तब साधारण लेखकों की स्थिति का आसानी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

प्रेमचन्द बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे लेकिन अपने सम्मान से ज्यादा उन्हें देश के सम्मान का ध्यान रहता था। मुंशी दयानारायन निगम ने अपने घर पर एक समारोह में जब कुछ अंग्रेज़ों को भी बुलाया तो प्रेमचन्द ने उनके इस कार्य का विरोध किया।

प्रेमचन्द के लिए देश-भक्ति और जन-तंत्र दो विरोधी चीज़ें नहीं थीं। वह राष्ट्रीय और जनवादी भावनाओं के समर्थक थे। निर्भीकता से वह अपने विचार दूसरों के सामने रखते थे और उनके लिए लड़ते थे। एक बार हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुए उन्होंने गांधी जी का भी विरोध किया था और श्री चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' के बारे में लिखा था—"इस कम्युनल प्रोपेगेंडा का ज़ोरों से मुकाबला करना होगा।"

प्रेमचन्द ने अपने प्रिय 'हंस' को चलाने के लिए कुछ दिन सिनेमा के लिए लिखा, लेकिन उन्हें गुलाम बनकर लिखना मंजूर न था। पग-पग पर उन्हें अनुभव हुआ कि इस समाज में लेखक स्वाधीन नहीं है। उसे कलम बेचकर अनैतिक रचनाओं से पूंजीपतियों के मुनाफ़े का साधन बनना पड़ता है। फ़िल्मी जीवन के कटु अनुभवों का ज़िक्र करते हुए उन्होंने जैनेन्द्र जी को लिखा था—"मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment value कहते हैं। अद्‌भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नकली लड़ाई। बोसेबाज़ी। ये ही उनके मुख्य

साधन हैं।" 'मज़दूर' फिल्म के बारे में लिखा था—"मज़दूर में भी मैं इतना ज़रा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर।" मुनाफा कमाने वाली संस्कृति के ठेकेदारों के यहाँ लेखक की कितनी इज़्ज़त होती है, प्रेमचन्द के पत्र इसे स्पष्ट कर देते हैं।

वह बम्बई से लौट आए। ग़रीबी में ठोकरें खाना कबूल किया; आत्म सम्मान बेचना उनके बस की बात न थी। एक स्मरणीय बात यह है कि प्रसाद जी ने प्रेमचन्द को बम्बई जाने से रोका था। 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति-अंक में एक चित्र छपा है जिसमें प्रसाद और प्रेमचन्द साथ खड़े हुए हैं। धोती, कुर्ते के साधारण वेश में देखकर अचानक विश्वास न होगा कि यही हिन्दी के महान् साहित्यकार प्रसाद और प्रेमचन्द हैं। लेकिन प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि, जिससे कुछ भी छिपा न रहता था, इस धुँधले चित्र में भी उन्हें असाधारण प्रतिभाशाली घोषित करती है और प्रसाद का ऊँचा माथा उनके विशद अध्ययन और आत्मविश्वास को प्रकट करता है। इन दो साहित्यकारों की मित्रता हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। प्रेमचन्द ने प्रसाद जी का 'कंकाल' उपन्यास छपने पर उसकी बड़ी सुन्दर आलोचना लिखी थी।

कहते हैं कि जिस समय प्रेमचन्द की अर्थी उठी थी, उस समय उसे कन्धा देने वालों में स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' भी थे।

किसी ने एक बार प्रेमचन्द जी से पूछा था—आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन सी है ?

प्रेमचन्द ने जवाब दिया था—वह अभी लिखी ही नहीं गई।

दरअसल वह लिखी नहीं गई थी, क्योंकि प्रेमचन्द उसे जी रहे थे। वह कहानी लिखी जा भी नहीं सकती थी। उनकी सबसे अच्छी कहानी उनका जीवन थी।

प्रेमचन्द में विचारों की दृढ़ता चट्टान-जैसी थी। उनके कई मित्रों ने लिखा है कि उन्हें ईश्वर में विश्वास नहीं था। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए प्रेम-चन्द से लोग ईश्वर का स्मरण करने के लिए कहते थे। उन्होंने उस अन्तिम

रात्रि को जैनेन्द्र से कहा था—"जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की ज़रूरत नहीं मालूम हुई है।"

यह प्रेमचन्द का मनुष्यत्व था जो मृत्यु को देख कर मुस्करा रहा था।

प्रेमचन्द की जीवन-कथा एक दूसरे महान् लेखक की याद दिलाती है जिसका जीवन इतने कटु अनुभवों से भरा हुआ था कि उसने अपना नाम ही गोर्की (तिक्त) रख लिया था। जिस साल प्रेमचन्द का देहावसान हुआ, उसी साल गोर्की का भी। दोनों की समानताओं का ज़िक्र करते हुए श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा था—"गोर्की की भाँति ही उन्होंने छुटपन से ही कठिनाइयों की कड़वी घूंट पी थी। उनका दुःख ही उनके लिए अमृत बन गया।"

प्रेमचन्द दुखी हिन्दुस्तान के ग़रीबों के लेखक थे। उनका साहित्य तमाम पीड़ितों का मानसिक संबल है।

प्रेमचन्द की आवश्यकताएं हिन्दुस्तान के एक साधारण किसान की आवश्यकताएँ थीं। उन्हें भी पूरा करने के लिए उन्हें जी तोड़ परिश्रम करना पड़ा। उनकी प्रतिभा पूरे विकास पर थी, जब 'मंगल सूत्र' को अधूरा छोड़कर उनकी लेखनी ने विश्राम लिया। वह ज़िन्दगी को प्यार करते थे; मौत से डरते न थे लेकिन मरना चाहते भी न थे। वह लिखना चाहते थे, अपने देश और जनता की और भी सेवा करना चाहते थे। जब से 'सोज़े-वतन' की प्रतियाँ जलाई गईं, तब से लेकर 'हंस' के लिए ज़मानतें देने तक—और आखिरी ज़मानत उन्होंने अपनी मृत्यु के साल ही दी थी—उन्हें बराबर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर लेनी पड़ी। यह कहना सच होगा कि प्रेमचन्द देश की आज़ादी के लिए लड़ते हुए शहीद हुए और उनका खून अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों के सिर पर है।

जिस समय मजबूर होकर उन्होंने 'हंस' साहित्य-परिषद् को दे दिया था, इस विचार से कि छपाई से प्रेस चलेगा, उस समय उनके पेट में अल्सर था और मुंह से खून आता था। साहित्य-परिषद् ने पचास रुपये

की बचत के लिए उसे सस्ता-साहित्य-मंडल को दे दिया। प्रेमचन्द ने एक मित्र को सच्ची कड़वी बात लिखी थी—"बनियों के साथ काम करके यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज़्यादा रुपया खर्च कर दिया। इसके लिए मैंने दिलो-जान से काम किया। बिलकुल अकेला अपने वक्त और सेहत का कितना खून किया, इसका किसी ने लिहाज़ न किया।" (अख़्तरहुसैन रायपुरी को पत्र; श्री हंसराज 'रहबर' द्वारा "प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व" में उद्धृत)।

भले ही कुछ स्वार्थियों ने लिहाज़ न किया हो, हिन्दुस्तान के तमाम देश-प्रेमी लेखकों और पाठकों के लिए प्रेमचन्द की जीवन-स्मृति एक निधि है, जिसकी वे प्राण-पन से रक्षा करेंगे।

२

'सेवा सदन'

'सेवा सदन' के पहले हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में क्या था ? कई आलोचकों ने लिखा है कि देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' आदि के सेवा कुछ नहीं था। हिन्दी-साहित्य का इतिहास देखने पर यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है।

'सेवा सदन' से पहले हिन्दी में कथा-साहित्य की एक परम्परा कायम हो रही थी जिस पर ध्यान देने से 'सेवा सदन' उसी का एक अगला बढ़ा हुआ क़दम मालूम पड़ता है। इससे प्रेमचन्द की मौलिकता में बट्टा नहीं लगता, बल्कि वह अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आती है। भारतेन्दु-युग के बहुत से निबन्ध चरित्र-चित्रण और कथोपकथन की दृष्टि से उपन्यास की सीमा को छूते हुए दिखाई देते हैं। खास कर उनके व्यंग्य और हास्य में, सजीव शैली में और सामाजिक समस्याओं की छान-बीन में प्रेमचन्द के उपन्यासों से बहुत बड़ी समानता दिखाई देती है। भारतेन्दु के निबन्ध 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', राजा शिव-प्रसाद सितारे हिन्द का 'राजा भोज का सपना', राधाचरण गोस्वामी का 'यमपुर की यात्रा' आदि का यहाँ ज़िक्र किया जा सकता है। वर्तमान समाज में शिक्षा की विडंबना, धार्मिक पाखंड द्वारा समाज-सुधार का विरोध, अंग्रेज शासकों द्वारा जनता का उत्पीड़न इन निबन्धों के विषय हैं। प्रेमचन्द ने इन्हीं विषयों को लेकर अपना विशाल कथा-साहित्य रचा था। इसलिए यह समझना भूल होगी कि हिन्दी-लेखकों ने जनता की शिक्षा और उसके मनोरंजन के लिए तिलिस्माती क़िस्से-कहानियों के अलावा और कुछ न दिया था।

बात निबन्धों तक सीमित नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से सामाजिक उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था। भारतेन्दु ने अपने एक पत्र

में लिखा था—"जैसे भाषा में अब कुछ नाटक बन गए हैं, अब तक उपन्यास नहीं बने हैं। आप या हमारे पत्र के योग्य सहकारी सम्पादक जैसे बाबू काशीनाथ व गोस्वामी राधाचरणजी कोई भी उपन्यास लिखें तो उत्तम हो।"

श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' और बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान और एक सुजान' उल्लेखनीय है। इन उपन्यासों में पुरानी आलंकारिक शैली को तिलांजलि दे दी गई है; भाषा और चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता है यद्यपि कहीं-कहीं उपदेशों के बोझ से कथा-दब भी गई है। भट्ट जी से एक उद्धरण देना काफ़ी होगा। गर्मी की दोपहर का वर्णन है—

"कोई-कोई बड़ी जंगेरैतिन गृहस्थी का सब काम शेष होते देख जेठ के दीर्घ दोपहर की ऊब दूर करने को सूप की फटकार से अपने पड़ोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही हैं। हवा के साथ लड़ने वाली कोई कर्कशा न लड़ेगी, तो खाया हुआ अन्न कैसे पचेगा, यह सोच अपने पड़ोसियों पर बाण से तीखे और रूखे वचन की वर्षा कर रही है।···खेलवाड़ी बालक, जिन्हें इस दोपहर में भी खेलने से विश्राम नहीं है, गधे हांकते हुए दूसरे-दूसरे खेल का बन्दोबस्त कर रहे हैं। बंगलों पर साहब लोगों के पदाघातों का रसिक पंखा-कुली अपने प्रभु के पाद-पद्म को मानो बारबार झुकझुककर प्रणाम करता सा ऊँघ रहा है; पर पंखे की डोरी हाथ से नहीं छोड़ता।"

बालकृष्ण भट्ट में उपन्यासकार की व्यापक दृष्टि थी जो सूप फटकारने ले लेकर अंग्रेज़ बहादुर के लिए कुली के पंखा खींचने तक सभी घटनाओं को देखती थी। उनके पास सफल उपन्यासकार की वह सजीव व्यंग्यपूर्ण शैली थी जो पाठक के राष्ट्रीय आत्मसम्मान को सचेत कर देती थी।

'सेवा सदन' इस वाक्य से शुरू होता है—"पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।"

इस तरह का व्यंग्य भारतेन्दु-युग की अपनी विशेषता थी और

प्रेमचन्द उसके सच्चे उत्तराधिकारी थे। लेकिन भारतेन्दु-युग के निबन्धों और उपन्यासों के पढ़ने वाले बहुत थोड़ी संख्या में थे। 'चन्द्र-कान्ता' और 'तिलिस्म होशरूबा' के पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को 'सेवा सदन' का पाठक बनाया, यह उनका युगान्तर-कारी काम था। इन पाठकों की संख्या का अन्दाज़ा किताबों की बिक्री और संस्करणों से नहीं लगाया जा सकता। शहर या क़स्बे के किसी पुस्तकालय में जाकर प्रेमचन्द की किताबों की हालत देखिये। तरकारी काटने वाली स्त्रियों के हाथों से लेकर लाठी को तेल पिलाने वाले दरबानों की उँगलियों तक से उनके सफ़े पलटे जाने से वे किस खस्ता हालत में दिखाई देती हैं। प्रेमचन्द ने 'चन्द्रकान्ता' के पाठकों को अपनी तरफ़ ही नहीं खींचा, 'चन्द्रकान्ता' में अरुचि भी पैदा की, जन-रुचि के लिए उन्होंने नये मापदण्ड कायम किये और साहित्य के नये पाठक—और पाठिकाएँ भी—पैदा किये। यह उनकी ज़बरदस्त सफलता थी।

यह सफलता उन्हें आसानी से नहीं मिली। उपन्यास को जनता तक पहुँचाने में ही उन्हें वर्षों लग गए। 'सेवा सदन' उन्होंने युद्ध-काल में लिखा था। सरशार और मिर्ज़ा रुसवा को काले कोसों पीछे छोड़ते हुए प्रेमचन्द ने यह उपन्यास पहले उर्दू में लिखा था। उर्दू में अपना साहित्य प्रकाशित करने और उसे जनता तक पहुँचाने में वह अनेक कठिनाइयों का अनुभव कर चुके थे। अन्त में उन्होंने उसे हिन्दी में छपवाया।

वेश्या-जीवन पर हिन्दी में पहले भी उपन्यास लिखे गए थे और बाद को भी। हिन्दी के इन उपन्यासों में कहीं पर तो वेश्या-जीवन मूल कथा के सिलसिले में आ गया है, कहीं-कहीं वह स्वयं मूल कथा है। कुछ उपन्यासों में धनी लड़कों को बिगड़ते दिखाकर—जिनके घर में अक्सर सुन्दर स्त्री भी होती थी—लेखक पाठकों को सावधान करता था कि वह इस तरह कुमार्ग पर जाने से बचें। कुछ उपन्यासों में, जो विशेषकर 'सेवा सदन' प्रकाशित होने के बाद लिखे गए थे, यथार्थ चित्रण के नाम पर वेश्या-जीवन का आधा सच्चा आधा झूठा चित्रण करके पाठकों की दिलचस्पी का

सामान तैयार किया गया था। अगर प्रेमचन्द का लक्ष्य इन धनी और सुन्दर स्त्री वाले नौजवानों को कुमार्ग पर पैर रखने से बचाना ही होता तो वे उन्हीं हल्के समाज-सुधारकों की पाँति से आगे न बढ़ पाते।

प्रेमचन्द का यह उपन्यास लोगों को सस्ती शिक्षा देने के लिए नहीं लिखा गया। वास्तव में वेश्या-जीवन उसका मुख्य विषय है भी नहीं। सुमन कथा पर छाई हुई है, इसलिए ऐसा आभास हो सकता है कि उपन्यास वेश्या-जीवन पर है। लेकिन इस बात की जाँच की जाय कि कितने सफ़ों में वेश्या-जीवन की चर्चा है तो पता चलेगा एक तिहाई से ज्यादा भाग यह चर्चा नहीं घेरती।

तब 'सेवा सदन' की मुख्य समस्या क्या है?

'सेवा सदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचन्द ने किस तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्म-बलिदान, उसके सतीत्व, उसकी पति-सेवा पर नहीं लिख गए? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्सहायता, पराधीनता, उसके साथ पशुओं और दासों-जैसे व्यवहार पर नज़र डाली थी?

तमिलनाड के महाकवि भारती, तेलुगु साहित्य के भारतेन्दु वीरेशलिंगम् उन थोड़े-से साहित्यकारों में थे जिन्होंने नारी की पराधीनता के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा था। प्रेमचन्द ने नकली आदर्शों की रामनामी खींचकर पंडितों और मौलवियों, समाज के 'प्रतिष्ठित' सज्जनों और धनपतियों का वास्तविक रूप जनता के सामने प्रकट कर दिया। कबीर के बाद किसी ने इतनी सचाई से, ऐसे मर्मवेधी व्यंग्य से हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों धर्मों के ढोंगियों और पाखंडियों का पर्दा फाश न किया था।

सुमन एक अच्छे स्वभाव की सुन्दर-सी लड़की है। उसे हम एक औसत दर्जे की लड़की कह सकते हैं। उसमें अगर कोई विशेषता है तो यह कि वह

अन्याय के सामने झुकना नहीं जानती; वह अपने आत्म-सम्मान को ठुकराया जाता नहीं देख सकती। उसके पिता थानेदार हैं और अगर किसी "अच्छे घर" में उसका ब्याह हो जाता तो शायद उसके जीवन में ऐसी कोई घटना न होती, जिस पर उपन्यास लिखा जाता।

उसकी माँ चाहती थी कि उसका ब्याह छुटपन में ही कर दिया जाय और इस तरह लड़की के ऋण से मुक्त हो जायं। लेकिन उसके पिता को नये विचारों की हवा लगा चुकी थी और वे इतनी छोटी उम्र में ब्याह करने के विरोधी थे। जब लड़की सयानी हुई तब उन्होंने वर देखना शुरू किया। वह शिक्षित वर चाहते थे लेकिन भारत में अंग्रेज़ी राज ने नौजवानों को कितनी अच्छी शिक्षा दी थी। जितना ही ज़्यादा पढ़े हों—यानी ऊँची डिगरियाँ पास हों—उतनी ही ज़्यादा रकम माँगो। प्रेमचन्द ने उन शिक्षितों की हक़ीकत ज़ाहिर कर दी जो विवाह और सतीत्व के नाम पर लेन-देन करते थे।

यही नहीं, प्रातिव्रत और सतीत्व के हामी सज्जन लड़के-लड़की में जो चीज़ सबसे पहले देखते थे, वह उनकी राशि और वर्ण थी। इन अन्ध-विश्वासों की रक्षा के लिए वह सैकड़ों लड़के-लड़कियों की ज़िन्दगी बर्बाद करने के लिए तैयार रहते थे।

समाज के ये तथाकथित शिक्षित लोग, जिनके लिए मनुष्यता कुछ नहीं थी, धन सब-कुछ था, कितने कायर और झूठे थे, प्रेमचन्द ने बहुत ही कलात्मक ढंग से दिखाया है। हिन्दी में इन समस्याओं पर इतनी गहराई से विचार करते हुए किसी ने इतना सुन्दर व्यंग्य न किया था।

प्रेमचन्द सुमन के पिता कृष्णचन्द्र की कठिनाइयों का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षित सज्जनों को उनसे सहानुभूति थी; पर वह एक-न-एक ऐसी पख निकाल देते थे कि दारोग़ा जी को निरुत्तर हो जाना पड़ता। एक सज्जन ने कहा, महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ, लेकिन करूँ क्या, अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हज़ार रुपये केवल दहेज म देने पड़े, दो हज़ार और खाने-पीने में खर्च पड़े,

"दूसरे महाशय इनसे अधिक नीति-कुशल थे। बोले, दारोग़ा जी, मैंने लड़के को पाला है, सहस्रों रुपये उसकी पढ़ाई में ख़र्च किये हैं। आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को। तो आप ही न्याय कीजिए कि यह सारा भार मैं अकेले कैसे उठा सकता हूँ?"

प्रेमचन्द ऐसे पाखंडियों से नफ़रत करते थे जो ऊपर से तो दहेज की कुप्रथा की बुराई करते थे लेकिन उसे कायम रखने के लिए हमेशा बहाने ढूंढ लिया करते थे। ऐसे लोगों ने शिक्षा से जो पाया था, वह यह कि बात बनाने में वह तमाम पुराण-पंथियों के कान काट सकते थे। नौजवानों में यह हिम्मत नहीं थी कि वह घर वालों का विरोध करें। उनकी शिक्षा ने उन्हें नौकरी को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य समझना सिखाया था। अपने दब्बूपन की वजह से अन्याय का विरोध करने की हिम्मत उनमें न थी; बहाना था पिता की आज्ञा मानने का!

सुमन के पिता कृष्णचन्द्र को लाचार होकर बेईमानी पर उतरना पड़ा। बेईमानी से धन पैदा करो, समाज में इज़्ज़त पाओ—दिखाने के दाँत और खाने के और, यह थी नीति जिसे समाज के ठेकेदार बरतते थे। कृष्णचन्द्र को घूस न लेने का आदर्श छोड़ना पड़ा। घूस ली लेकिन सिद्धहस्त न थे; पकड़े गए। फिर ईमानदारी में आकर सब-कुछ स्वीकार कर लिया और सज़ा पा गए।

सुमन पढ़े-लिखे वर से वंचित ही रह गई। अब उसके मामा ने शहरों का रास्ता छोड़ गाँवों की तरफ रुख किया। गाँवों के बारे में हमारे यहाँ बहुत से ऐसे उपन्यास और कविताएं लिखी गई हैं जिनमें वहाँ की ग़रीबी और अशिक्षा पर या तो पर्दा डाला गया है या उन्हें आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द गाँवों से और गाँवों में रहने वालों से प्रेम करते थे, इसीलिए वह उनकी ज़िन्दगी बदलना चाहते थे, इसीलिए वह उनकी ग़रीबी और अशिक्षा को भोलापन कहकर या "थोड़े में निर्वाह यहाँ है" ऐसे गीत रचकर अपने कर्त्तव्य से बच निकलना न चाहते थे।

उन्होंने गाँवों में प्रचलित सामन्ती कुप्रथाओं और मध्यकालीन संस्कारों पर भी प्रकाश डाला। गांव में वर ढूँढ़ने वाले के पहुँचने पर कैसा दृश्य आँखों के सामने आता है, प्रेमचन्द ने हास्य का पुट देते हुए उसे यों पेश किया है—

"ज्यों ही वह किसी गाँव में पहुंचते, वहां हलचल मच जाती। युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते जिन्हें वह बरातों में पहना करते थे। अंगूठियाँ और मोहनमाल मंगनी माँगकर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देतीं और धुले हुए कपड़े पहनाकर खेलने को भेजतीं। विवाह के इच्छुक बूढ़े नाइयों से मूंछ कटवाने और पके हुए बाल चुनवाने लगते। गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिए जाते, कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियां घरों से न निकलतीं, कोई अपने हाथ से पानी न भरती, कोई खेत में न जाता।"

सामन्ती संस्कारों का कैसा अनुपम चित्रण है। रोज़ खेतों में काम करने वाले किसान क्यों हल नहीं छूते? पानी भरने वाली स्त्रियाँ क्यों कुए पर नहीं जातीं? इसलिए कि इस समाज में इज्ज़त उनकी होती है जो अपने हाथ से काम नहीं करते, जिनकी स्त्रियाँ दूसरों से काम कराने में अपना गौरव समझती हैं। उन्हीं जागीरदारों, ज़मींदारों और महन्तों की नकल करते हुए मेहनती किसान मेहनत के काम को छिपाना चाहते हैं। इस समाज में मेहनत की इज्ज़त नहीं होती, क्योंकि मेहनत करने वाला आज़ाद नहीं है। अपनी मेहनत का फल वह खुद नहीं पाता बल्कि समाज के 'प्रतिष्ठित' लोग पाते हैं। इसलिये मांगे की अंगूठियों और मोहनमाला से एक घड़ी के लिए वह भी इज्ज़तदार बनना चाहता है। और जैसे 'प्रतिष्ठित' लोगों को जवानी से लेकर—कहना चाहिए, बचपन से लेकर—चिता पर चढ़ने तक औरतों की कमी नहीं रहती, वैसे ही उम्र पाये हुए किसान भी मूँछें छंटवाकर और सफेद बाल चुनवाकर एक बार अपना भाग्य परखना चाहते हैं।

हिन्दी-उपन्यासों में यह एक नया यथार्थवाद था, जिसे प्रेमचन्द जन्म

दे रहे थे ।

शहर के पढ़े-लिखे कायरों और गाँव के इन अपढ़ किसानों का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द की शैली बदल जाती है । उनकी सहज सहानुभूति किसानों के साथ है, जो अपनी अशिक्षा और कुसंस्कारों के लिए खुद ज़िम्मेदार नहीं हैं । इसलिए उनकी शैली परिहास का पुट लिये है। शहर के पढ़े-लिखे दहेजप्रेमी आँखें होते हुए भी अन्धे हैं, इसलिए वहाँ प्रेमचन्द की शैली व्यंग्यपूर्ण और मर्म पर चोट करने वाली होती है।

अन्त में उमानाथ एक दोहाजू वर तलाश करते हैं यानी ऐसा वर जिसकी पहली स्त्री मर चुकी है लेकिन जो दहेज लिये बिना एक और कन्या का 'उद्धार' करने के लिए तैयार है । उमानाथ अपनी बहन को यों समझाते हैं—"शहर में कोई बुड्ढा तो होता ही नहीं । जवान लड़के होते हैं और बुड्ढे जवान, उनकी जवानी सदा बहार होती है। वही हंसी-दिल्लगी, वही तेल-फुलेल का शौक । लोग जवान ही रह जाते हैं और जवान ही मर जाते हैं ।"

जब इस तरह के सदाबहार से सुमन का ब्याह हुआ तो सुमन की माँ उसे देखकर बहुत रोई और उसे ऐसा लगा "मानो किसी ने सुमन को कुए में डाल दिया" हो । उपन्यास की वास्तविक समस्या यह है—लड़कियों को कुए में ढकेलना और फिर सतीत्व और पातिव्रत धर्म के गीत गाना। इस समूचे व्यापार में बेचारी सुमन की इच्छा-अनिच्छा का सवाल नहीं उठता । बलिपशु की तरह जिस खूंटे से भी बाँध दी जाय, उसे बँधना पड़ता है।

जैसी कि आशा की जा सकती थी, सुमन का जीवन सुखी नहीं था । एक तो ग़रीबी थी, दूसरे अनमेल ब्याह हुआ था । उसकी सारी आशाओं, भविष्य के तमाम सुन्दर सपनों पर पानी फिर गया । जब वह वकील पद्मसिंह के यहाँ आने-जाने लगी, तब पति ने उस पर व्यर्थ सन्देह भी किया । सुमन ने अच्छी तरह देख लिया कि इस समाज में स्त्री की कोई इज़्ज़त नहीं है । इज़्ज़त है तो उन स्त्रियों की जो अपनी इज़्ज़त बेचने के लिए तैयार हैं।

सुमन के सामने भोली नाम की वेश्या रहती है । स्त्रियों में किसी

स्त्री ने पुरुषों से इज्ज़त पाई है तो भोली ने। वही लोग जो घर की स्त्री को पैर की जूती समझते थे, भोली के तलवे सहलाने में अपने को धन्य मानते थे।

एक दिन सुमन ने देखा कि भोली के दरवाजे पर मौलूद की तैयारियाँ हो रही हैं। भिश्ती ने पानी छिड़का, शामियाना लगा और गैस का हण्डा जला। टमटम, फिटन और साइकिल पर भद्र पुरुष आने लगे। फिर वेश्या के द्वार पर मौलवी साहब पधारे। प्रेमचन्द लिखते हैं—

"फिर मौलाना साहब की सवारी आई। उनके चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। वह सजे हुए सिंहासन पर मसनद लगाकर बैठ गए और मौलूद होने लगा।"

इन सब लोगों में सुमन का पति गजाधर भी जाकर बैठ जाता है। सुमन ने सुना था कि वेश्याएँ दुश्चरित्र होती हैं और इसलिए भले आदमी उनके यहां नहीं जाते। वह पति से पूछती है—"तुम्हें तो वहां जाते हुए संकोच हुआ होगा?" पति उत्तर देता है—"जब इतने भले मानस बैठे हुए थे तो मुझे क्यों संकोच होने लगा। वह सेठ जी भी आये हुए थे जिनके यहाँ मैं शाम को काम करने जाया करता हूँ।"

मालिक और नौकर, धर्मगुरु और शिष्य—किसी को भी वेश्या के दरवाज़े पर जाते हिचक नहीं थी। वे सब उसकी इज्ज़त करते थे और अपने को इज्ज़तदार समझते थे, उस भोली के घर जाकर, जिसका पेशा ही इज्ज़त बेचना था, जो अपने तन और मन की मालिक न थी, जिसका रंग-रूप बाजार के बिकाऊ माल की तरह पैसे के बल पर कोई भी खरीद सकता था।

वकील पद्मसिंह म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर चुने जाते हैं। उनके हर्ष प्रकट करने का साधन है—भोली का मुजरा कराना। तारीफ की बात यह कि "वह वेश्याओं के नाच-गाने के कट्टर शत्रु थे। इस कुप्रथा को मिटाने के लिए उन्होंने एक सुधारक संस्था स्थापित की थी।" उन शिक्षितों की तरह जो दहेज के विरोधी होते हुए भी उसे लेते जाते थे, पद्मसिंह ने भी मुजरा कराना निश्चित किया।

जब भोली गा रही थी तब पद्मसिंह की स्त्री आश्चर्य कर रही थी

"कि लोग इतने एकाग्रचित्त होकर क्या सुन रहे हैं"। सुमन ने गाना पसन्द किया और उसने धीरे-धीरे दोहराया भी लेकिन—"वह देखती थी कि सैंकड़ों आंखें भोली बाई की ओर लगी हुई हैं। उन नेत्रों में कितनी तृष्णा थी! कितनी विनम्रता, कितनी उत्सुकता!" ये सब सदाचार और सतीत्व के ठेकेदार थे।

और सुमन सोचती थी—"इस स्त्री में कौन सा जादू है?"

सुमन भी सुन्दर थी; गला सुरीला था लेकिन उसकी इज़्ज़त करना तो दूर, उसके आत्म-सम्मान को पग-पग पर ठुकराया जाता था। इसका कारण क्या था? राशि और वर्ण सब मिला लिए गए थे। मंत्रों के साथ भाँवरें पड़ चुकी थीं। फिर भी गृहस्थ नारी का सम्मान क्यों नहीं होता था? इसलिए कि यह विवाह-प्रथा स्वेच्छा से दो मनुष्यों का मिलन नहीं थी वरन् स्वामी-पुरुष के लिए एक दासी प्राप्त करने का साधन-मात्र थी। सत्य यह था कि पुरुष शासक था और स्त्री शासित। अपने दास की वह जितनी और जब चाहता इज़्ज़त करता, जब चाहता ठुकरा देता। इस दास-स्वामी संबंध को ढंकने के लिए उसने जितने आदर्शों के दुपट्टे ओढ़ रखे थे, प्रेमचन्द ने उसे उन्हें खींचकर एक तरफ फेंक दिया। उन्होंने दिखाया कि ये पुरुष-स्वामी उसी स्त्री की इज़्ज़त करते हैं जो किसी एक की दासी नहीं हैं, जो इस हद तक अपनी स्वामिनी है कि अपना तन बेच सकती है। जिस समाज की स्त्रियों में वेश्याएँ ही स्वाधीन हों और पुरुष उन्हीं को सम्मानित करें ऐसे समाज के भविष्य की कल्पना की जा सकती है। इस जर्जर समाज-व्यवस्था की विडंबना को प्रेमचंद ने अच्छी तरह प्रकट कर दिया।

क्यों भोली का सम्मान होता है, इस बारे में बहुत सोच-विचार करने के बाद सुमन जिस नतीजे पर पहुँचती है, वह प्रेमचन्द के शब्दों में यह है:—

"अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं।"

सुमन ने परिस्थिति का सही विश्लेषण किया था। इस सत्य का सामना

करने की ताब बड़े-बड़े समाज-शास्त्रियों में आज भी नहीं है, पहले महायुद्ध के दिनों की तो बात ही क्या !

पद्मसिंह के यहाँ से सुमन देर में लौटती है। गजाधर उस पर शक करता है। वह सुमन से उसी तरह व्यवहार करता है जिस तरह पुरुष-स्वामी अपनी खरीदी हुई दासी से। वह धमकाता है—"अब यह धांधली एक न चलेगी, साफ-साफ बताओ, तुम अब तक कहाँ रहीं।...ठीक-ठीक बता दो, नहीं तो आज जो कुछ होना है, हो जायगा।"

इसी परिस्थिति में कितनी स्त्रियों ने मार नहीं खाई, पति की गालियां नहीं सुनीं। लेकिन बीसवीं सदी के भारतीय समाज में धीरे-धीरे एक परिवर्तन हो रहा था। साम्राज्यवादी सामन्ती जुए के नीचे जनता कसमसाने लगी थी और समाज की सबसे दलित अंग नारी—राष्ट्रीय पराधीनता और घरेलू दासता, दोनों से पिसती हुई नारी—स्वाधीनता के लिए हाथ-पैर फैलाने लगी थी। प्रेमचन्द ने सबसे पहले इस परिवर्तन को देखा था, उसका स्वागत किया था, उसे बढ़ावा दिया था।

सुमन का चरित्र पाठकों को ऊँचा उठाता है; वह उनके मन में एक नई स्फूर्ति, एक नया विश्वास जगाता है।

पति, पुरानी रीति के अनुसार, घर से निकालने की धमकी देता है—"चली जा मेरे घर से, रांड़ कोसती है।"

सुमन न पैरों पड़ती है, न गिड़गिड़ाती है। उसके स्वर में भारत का नव-जाग्रत नारीत्व उत्तर देता है—"हां, यों कहो कि तुझे रखना नहीं चाहता। मेरे सिर पर पाप क्यों लगाते हो? क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो? जहीं मजूरी करूंगी, वहीं पेट पाल लूंगी।"

प्रेमचन्द ने संघर्ष का वास्तविक रूप पूरी सचाई के साथ चित्रित किया है। पति अपने को अन्नदाता न समझता तो उसे घर से निकालने की धमकी क्यों देता? लेकिन स्वाभिमानिनी सुमन ऐसे अन्नदाता की गुलामी करने और ऊपर से उसकी गालियाँ खाने के लिए तैयार नहीं है। वह घर से निकलकर चल देती है।

वह पद्मसिंह के घर में आश्रय लेती है। अब उसके पति का सन्देह पक्का हो जाता है। वेश्या की इज्जत करने वाले महापुरुष औरत-मर्द में, व्यभिचार छोड़कर, दूसरे सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर पाते। जो लोग पद्मसिंह को अच्छी तरह जानते थे, उन्होंने भी अपवाद पर विश्वास कर लिया। ये धर्म-रक्षक मंज़िल-दर-मंज़िल सुमन को भोली के जीवन-पथ पर ठेल रहे थे। प्रेमचन्द ने विस्तार से दिखलाया है कि इस समाज-व्यवस्था में सम्पत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्या-वृत्ति को प्रश्रय ही नहीं देते वेश्याओं को जन्म भी देते हैं। प्रेमचन्द ने सामाजिक संबंधों की छान-बीन कितनी गहराई से की है यह इसी से ज़ाहिर होता है, कि उन्होंने वेश्या-वृत्ति की मूल प्रेरक शक्तियों को कठघरे में खड़ा कर दिया है जहाँ से उपन्यासकार और पाठकों की नज़र बचाकर भाग जाना उनके लिए संभव नहीं है। दहेज, अनमेल विवाह, पति का सन्देह, घर से निकालना और वेश्या की देहरी। मानो इस विवाहप्रथा और वेश्या-वृत्ति में कोई अन्योन्याश्रय संबंध हो कि एक होगी तो दूसरी होगी ही। और जस समाज में विवाह का मतलब कन्या-विक्रय हो, उससे वेश्या-वृत्ति कौन उठा सका है?

नारी की पराधीनता के बारे में जो कटु अनुभव सुमन को हुआ था, वही कटु अनुभव उससे पहली भोली को हो चुका था। वह सुमन को बतलाती है—"मेरे मां-बाप ने भी मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले में बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफ़रत थी। मैंने किसी तरह छः महीने तो काटे, आखिर निकल खड़ी हुई।"

प्रेमचन्द यह दिखलाते हैं कि नारी की पराधीनता और वेश्या-वृत्ति हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में हैं। वह इस्लामी संस्कृति और हिन्दू संस्कृति का डंका बजाने वालों से कहते हैं—देखो, यह है तुम्हारी संस्कृति जो हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्मों की स्त्रियों से वेश्या-वृत्ति कराती है। तुम्हारे यहाँ नारीत्व का तभी सम्मान किया जाता है जब वह बिकाऊ हो।

प्रेमचन्द नारी के आदर और सम्मान की समस्या को तीखेपन से

और बार-बार पाठक के सामने लाते हैं। पद्मसिंह से खबर पाकर समाज-सुधारक बिट्ठलदास सुमन को अपनी नई वृत्ति छोड़ने के लिए समझाते है—"तुम्हारा कितना आदर था, लोग तुम्हारी पद-रज माथे पर चढ़ाते थे, लेकिन आज तुम्हें देखना भी पाप समझा जाता है—"

विट्ठलदास एक आदर्शवादी दुनिया में रहते हैं, इसलिए जिसे वह सुधारने गये हैं, उसके रोग का उन्हें पता ही नहीं है। उनकी लच्छेदार वक्तृता के मुकाबले में सुमन अपने जीवन का कटु सत्य पेश करती है—

"सुमन ने बात काटकर कहा, महाशय, यह आप क्या कहते हैं? मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है, उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही, किसी ने भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।"

मौलूद का उत्सव और भोली, ठाकुरद्वारे में गाना और सुमन। धार्मिक पाखंड और वेश्यावृत्ति में कितना निकट सम्बन्ध है, प्रेमचन्द से छिपा नहीं है। कबीर की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचन्द न मंदिर के पुजारियों को बख्शते हैं और न मस्जिद के मौलवियों को।

बिट्ठलदास सुमन के तर्कों से परास्त हो जाते हैं। उन्होंने सत्य की कल्पना ही की थी, उसे इतने नज़दीक से कभी न देखा था। लेकिन जब पद्मसिंह सुमन से मिलते हैं, तब वह उन्हें परास्त ही नहीं करती, उनके मर्म स्थानों को अपने व्यंग-वाणों से बुरी तरह छेद भी देती है। उनकी कायरता को याद करके उसकी घृणा और प्रतिहिंसा जाग उठती है।

पद्मसिंह अफसोस ज़ाहिर करता है कि वह उस समय सुमन को घर से बाहर न करता तो उसकी यह दशा न होती। सुमन इस तरह की सहानुभूति को अपना अपमान समझती है। वह कड़क कर जवाब देती है—"तो इसके लिए आपको लज्जित होने की क्या आवश्यकता है? अपने घर से निकालकर आपने मुझ पर बड़ी कृपा की, मेरा जीवन सुधार दिया।"

पद्मसिंह बगलें झांकते ही दिखाई देते हैं।

सुमन को वेश्यावृत्ति से प्रेम नहीं है। वह बिट्ठलदास और पद्मसिंह की बात मानकर एक विधवाश्रम में दाखिल हो जाती है।

उसके एक बहन भी है। शादी तै होती है लेकिन लड़के के बाप को जब पता चलता है कि उसकी बहन वेश्या है तो वह बरात लौटा ले जाता है। एक बार 'कलंकित' होने पर सुमन खद ही मुसीवत नहीं उठाती, वह दूसरों की राह में भी कांटा बिखेरती जाती है। उसके 'कलंक' से बहन की शादी नहीं होती और पितृ-भक्त वर महोदय में इतना साहस कहां कि विवाह कर ही लें। नतीजा यह कि शान्ता भी विधवाश्रम पहुंच गई। लेकिन समाज की मर्यादा के रखवालों ने दोनों बहनों को विधवाश्रम में भी न रहने दिया। भूतपूर्व वेश्या के सम्पर्क से विधवाओं के सतीत्व के लिये भय उत्पन्न हो गया। दोनों बहनों को आश्रम छोड़ना पड़ा।

शान्ता का पति अन्त में बाप से लड़कर नाव चलाने लगा और उसने शान्ता से विवाह भी कर लिया। लेकिन इस गृहस्थघर में कलंकिनी सुमन कैसे रहती? शान्ता के पुत्र होता है; उसके ससुर आते हैं और सुमन को वह जगह भी छोड़नी पड़ती है। एक स्त्री, जो अत्याचार नहीं सहना चाहती, कितनी कठिनाइयों का मुक़ाबला करती है। सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना होन से उसे ऐसा दंड दिया जाता है कि दूसरा व्यक्ति फिर विरोध करने का दुस्साहस न करे। सुमन गंगा की शरण ले, इसके सिवा और कोई चारा नहीं रहता। कथा का यही तर्क-संगत परिणाम भी था। यहां तक एक वीर नारी का संघर्ष, आत्मसम्मान की रक्षा के लिये सभी कठिनाइयों का सामना करना, यह कथा को रोचक और बलशाली बनाये हुए था। इसके बाद प्रेमचन्द एक काल्पनिक समाधान पेश करते हैं।

सुमन का पति गजाधर संन्यासी हो गया है। उसे अपने कर्मों पर पश्चात्ताप हुआ है और अब वह स्त्रियों के उद्धार का काम करने लगा है। वह सुमन को बचा लेता है और वह सेवासदन का काम संभालने लगती है। सभी आलोचकों ने लक्ष्य किया है कि यह अन्त उपन्यास का

निर्बल अंश है।

प्रेमचन्द समस्या का समाधान देना चाहते थे, लेकिन उचित समाधान देने में ऐतिहासिक सीमाएं बाधक थीं। नारी की स्वाधीनता और सम्मान-रक्षा का प्रश्न देश की आम सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का ही अंग है। नारी की स्वाधीनता देश में एक स्वाधीन जनतन्त्र कायम हुए बिना संभव नहीं। वे शक्तियां, जिन्होंने सुमन को पहले वेश्या बनाया, पीछे कलंकिनी कह कर उसे गंगा की तरफ़ ठेला, समाज पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए थीं। इनके विरुद्ध संघर्ष—समस्या का यही समाधान हो सकता था। लेकिन पहले महायुद्ध के दिनों में स्वाधीनता-आन्दोलन असंगठित और कमज़ोर था। इसलिये प्रेमचन्द उसे चित्रित नहीं कर सके। वे समाज की प्रगति रोकने वाली शक्तियों को देख रहे थे लेकिन पुरानी व्यवस्था को बदलने वाली शक्तियां उनके सामने तब मैदान में आई न थीं।

इस ऐतिहासिक सीमा के होते हुए भी 'सेवा सदन' का मुख्य कथा-भाग यथार्थ जीवन का बहुत ही सफल चित्र प्रस्तुत करता है। सुमन वेश्या-जीवन की प्रतिनिधि पात्र नहीं है। वह थोड़े ही दिन तक वेश्या रहती है और तब भी और वेश्याओं की तरह वह तन नहीं बेचती। बेचना तो दूर, वह किसी को उसे समर्पित भी नहीं कर सकती। ऐसा होना असंभव नहीं है—लेकिन जो कुछ संभव है, वह सभी उपन्यास का विषय नहीं होता। उपन्यासकार किसी वर्ग या वृत्ति के अनेक व्यक्तियों की विशेषताओं को लेकर एक प्रतिनिधि पात्र की रचना करता है। इस दृष्टि से सुमन का चरित्र-चित्रण पूरी तरह से स्वाभाविक नहीं बन पाया; वह वेश्या-जीवन की प्रतिनिधि किसी भी तरह नहीं कही जा सकती। लेकिन प्रेमचन्द का यह लक्ष्य था भी नहीं। वह नारी की पराधीनता पर हर तरफ़ से प्रकाश डालना चाहते थे और उसमें वह सफल होते हैं।

केवल होरी से सुमन की तुलना की जाती है। गोदान एक दुःखान्त उपन्यास है, प्रेमचन्द की सब से यथार्थवादी कृति, जीवन के सत्य को पूरे प्रकाश में व्यक्त करते हुए। होरी का मृत्यु-पर्यन्त संघर्ष और उसका अन्त

पाठक के हृदय को झकझकोर देते हैं। वह मनुष्य के दुःखों की इस मर्मस्पर्शी गाथा को सुनकर चकित रह जाता है। 'सेवा सदन' उसी लेखक का पहला महान् उपन्यास है। सुमन के संघर्ष और दुःखों की गाथा कम रोमांचकारी नहीं है। वह नारी है, इसलिये उसके कष्ट, उसका संघर्ष होरी से दूसरी तरह के हैं। हिन्दी कथा-साहित्य की वह पहली नारी है जो आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये संघर्ष की डगर पर पांव उठाती है। बचपन में वह सीधी और निस्सहाय है। उसकी इच्छाओं को आसानी से कुचल कर उसे एक अवांछित पुरुष के हवाले किया जा सकता है। लेकिन उसके भीतरकहीं वीर नारी का दर्प सो रहा था, वह दर्प जो भारतीय नारी की विशेषता है, और ठोकर खाकर वह जाग उठता है।

प्रेमचन्द ने सुमन को एक सांचे में ढली हुई सुन्दर मूर्त्ति की तरह पाठक के सामने नहीं रख दिया। उनके चरित्र-चित्रण में एक मौलिकता थी जो उनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता है। वह यह कि वे परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के साथ अपने पात्रों के चरित्र में भी उतार-चढ़ाव दिखाते हैं। सुमन जैसे-जैसे कठिनाइयों का सामना करती है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तित्व निखरता है। वह एक लड़ने-मरने वाली स्वावलम्बी नारी है जो अपने ही नहीं, दूसरों के प्रति भी अन्याय सहन नहीं कर सकती।

शांता को छोड़ने वाले सदन को वह इस तरह फटकारती है जिस तरह उसने गजाधर और पद्मसिंह को भी न फटकारा था। सुमन के वेश्या-जीवन के लिये शांता को क्यों दंड मिले, यह निरुत्तर कर देने वाला प्रश्न वह सदन से करती है—"इस का उत्तर तुम्हें देना पड़ेगा! देखो, अपने बड़ों की आड़ मत लेना, यह कायर मनुष्यों की चाल है। सच्चे हृदय से बताओ, यह अन्याय था या नहीं? और तुमने कैसे ऐसा घोर अन्याय होने दिया? क्या तुम्हें एक अबला बालिका का जीवन नष्ट करते हुए तनिक भी दया न आई?"

वह एक कुशाग्रबुद्धि नारी है। मनुष्य के चरित्र को अच्छी तरह समझती है। वह अपने रूप और गुणों के प्रति सचेत है; लेकिन उसे घमंड नहीं

है। नम्रता का अर्थ अपमानित होना भी वह नहीं मानती। वह अन्याय का विरोध करती है। बुराई को चुपचाप सहते रहना उसके शास्त्र में नहीं लिखा। वह दूसरों को दुःख नहीं देना चाहती लेकिन प्रतिहिंसा को भी बुरा नहीं समझती। उसके रोषपूर्ण व्यंग्य से पाठक को संतोष होता है; क्योंकि अन्याय का प्रतिकार करने का यह भी एक तरीक़ा है। जब वह अपने एक प्रेमी-जन की दाढ़ी जला देती है और दूसरे पर वार्निश गिराती है तो पाठक का मनोविनोद भी होता है और पाखंडियों की दुर्गति बनने से तृप्ति भी। वह क्रोध को छिपाना नहीं जानती; वह प्रेमचन्द के उन नारी पात्रों का लम्बा सिलसिला शुरु करती है जो अपने रोष से पुरुषों को चुनौती देते हैं।

अपनी बहन शांता की दशा देख कर वह सदन को ऐसी फटकार सुनाती है कि कोई हयादार होता तो डूब मरता। उसे याद आता है कि यही सदन लोगों की नज़र बचा कर सुमन से प्रेम की भीख मांगता था; लेकिन उसकी बहन से इसलिये विवाह नहीं करता कि वह एक वेश्या की बहन है! सुमन जब सदन की भर्त्सना करती है, तब वह समूची नारी जाति के अधिकारों के लिये लड़ती हुई वीरनारी के समान पाठक की दृष्टि में ऊंची उठ जाती है।

वह सदन से कहती है—"...तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इसलिये किया कि मैं उसकी बहन हूं, जिसके पैरों पर तुमने बरसों नाक रगड़ी है, जिसके तलुवे तुमने बरसों सहलाये हैं, जिसके कुटिल प्रेम में तुम महीनों मतवाले हुए रहते थे। उस समय भी तो तुम अपने मां-बाप के आज्ञाकारी पुत्र थे या कोई और थे? उस समय भी तो तुम वही उच्चकुल के ब्राह्मण थे या कोई और थे? तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक न कटती थी? आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो? अंधेरे में जूठा खाने पर तैयार, पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं!"

प्रेमचन्द से भिन्न जब हम दूसरे लेखकों के कथा-साहित्य में ऐसी नारी ढूंढ़ते हैं जिसके हृदय में अन्याय के प्रति ऐसा ही रोष हो, तब हमें निराश

होना पड़ता है। हमारे महान् मनोवैज्ञानिक लेखक, न नारी का अपमानित होना समझ पाते हैं, न उसके रोष को। उनकी कथा के ताने-बाने को हटा कर देखा जाय तो नारी उनके लिये वैसे ही वासना-पूर्ति का साधन है—यदि इसकी सामर्थ्य भी उनमें हो—जैसे वह सम्पत्तिशाली वर्ग के लोगों के लिये रही है। प्रेमचन्द नारी को मनुष्य का दर्जा देने के लिये लड़ रहे थे—बत्तीस करोड़ में सोलह करोड़ को जानवर के बदले इन्सान समझने के लिये। इस उपन्यास का और सुमन का यह ऐतिहासिक महत्त्व है।

सुमन को मुख्य पात्र बनाते हुए भी प्रेमचन्द उसी पर दृष्टि केन्द्रित नहीं रखते। अनेक उपन्यासकारों की यह विशेषता होती है कि वे प्रधान पात्र को दृष्टि से ओझल नहीं होने देते। इससे कथानक में कसाव पैदा होता है; पाठक की तृष्णा अटूट घटना-प्रवाह से बराबर तृप्त होती रहती है। लेकिन प्रेमचन्द 'तिलस्मे होशरुबा' और पुराणों के पाठक रह चुके थे। एक सीधे-सादे कथानक से उनका काम क्या चलता? वह मूल कथा को उसकी समूची पृष्ठ-भूमि के साथ पाठक को सुनाना चाहते थे। इसलिये 'सेवासदन' में महन्त रामदास भी हैं, जिनका सारा कारोबार बांके-बिहारी के नाम पर चलता था। उसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी हैं जो अपनी सजी हुई शब्दावली से जाहिर कर देते हैं कि वे सत्य से कितनी दूर हैं। उसमें वकील, समाज-सुधारक, वक्ता, पत्रकार, मल्लाह, गृहस्थ-स्त्रियां, वेश्याएं, सभी कुछ हैं, इतना कुछ कि एक उपन्यास में तब तक किसी ने न दिया था और अब तक भी कम ही ने दिया है।

प्रेमचन्द के कथोपकथन स्वाभाविकता लिये हुए हैं, उनका व्यंग्य, विशेषकर सुमन की बातचीत में, खूब निखरा हुआ है। इसकी जड़ में उन का चौदह साल पहले का अभ्यास काम कर रहा था। अधिकतर हिंदी पाठक उनकी उस साधना से अपरिचित थे। इसलिये हिंदी में 'सेवासदन' एक चमत्कार की तरह कौंध गया। हिंदी पाठकों के हृदय में सोये हुए करुणा और वीरता के भाव जाग उठे। आलोचकों को भले ही देर लगी हो,

साधारण पढ़ने वालों ने पहचान लिया, यह उनका अपना लेखक है।

प्रेमचन्द ने 'सेवा सदन' ही में 'प्रेमाश्रम' की सूचना दे दी थी। उनकी निगाह में वह किसान चढ़ चुके थे जो शोषण और अत्याचार का विरोध करने के लिये कमर कस रहे थे। 'सेवासदन' का चेतू 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर का पूर्वज है। महन्त रामदास ने यज्ञ के लिये हल पीछे पांच रुपये उगाहे थे। फ़सल खराब होने से, इज़ाफ़ालगान की नालिश से निपटते हुए कर्ज़ के बोझ से दब जाने से वह रुपये नहीं दे सका। उसे इतना मारा गया कि उसके प्राण निकल गये। "हाथ तो बंधे हुए थे, मुंह से लात-घूंसों का जवाब देता रहा।" इसके बाद की मंज़िल है 'प्रेमाश्रम'।

: ३ :

'प्रेमाश्रम'

ऊपर से देखने में 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' से बिल्कुल दूसरी तरह का उपन्यास लगेगा : लेकिन वास्तव में दोनों एक दूसरे के बहुत निकट हैं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में नारी-समस्या की छानबीन हल्के-फुल्के सतही ढंग से न की थी। उन्होंने दिखलाया था कि वेश्यावृत्ति को पैदा करने वाले और पालने पोसने वाले स्वार्थ समाज में मौजूद थे। इन स्वार्थों के निर्मूल हुए बिना किसी तरह का समाज-सुधार संभव नहीं था। महन्त रामदास और बूढ़े किसान चेतू की घटना से उन्होंने दिखला दिया था कि ये स्वार्थ किस तत्परता और क्रूरता से अपनी रक्षा करते हैं। धर्म और क़ानून—सभी उनकी मदद के लिये आ जाते हैं। महन्त रामदास ही दारोग़ा को घूस देते हैं। घूस देने वाला हत्यारा तो बच जाता है, कृष्णचन्द्र और उसका परिवार तबाह हो जाते हैं।

प्रेमचन्द उन उपन्यासकारों में थे जो पेड़ का पत्ता देखकर संतोष न करते थे, बल्कि उसकी जड़ें खोदकर देखते थे, चाहे वह पाताल तक ही क्यों न गई हों। यही सबब है कि नारी-समस्या और वेश्यावृत्ति की छानबीन करते हुए उन्होंने धर्म, क़ानून और सम्पत्ति के सम्बन्धों पर भी अच्छी तरह प्रकाश डाला था। सामाजिक अन्याय के विष-वृक्ष की जड़ों को उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में पूरी तरह उधार दिया, शब्द-जाल और छलकपट की मिट्टी हटा कर दिखला दिया कि अन्याय और अत्याचार के फूल किन डालों में लगते हैं और कहां से उन्हें खाद-पानी मिलता है।

'सेवासदन' में कुंवर अनिरुद्धसिंह ने वेश्यावृत्ति पर जो विचार प्रकट किये हैं, उनपर ध्यान देने से यह संदेह नहीं रह जाता कि वे विचार प्रेमचन्द के ही हैं। उनसे प्रेमचन्द के व्यापक सामाजिक अनुभव और उनकी सूक्ष्म तर्क-बुद्धि का पता चलता है। कुंवर अनिरुद्धसिंह कहते हैं:—

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं। यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें। सब से नीच हम हैं, सबसे बड़े पापी, दुराचारी, अन्यायी हम है, जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और उच्च समझते हैं। हमारे शिक्षित भाइयों ही की बदौलत दालमंडी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों में रौनक़ है। यह मीना-बाज़ार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फँसाई हैं। ये कठपुतलियाँ हमने ही बनाई हैं। जिस समाज में अत्याचारी ज़मींदार, रिश्वती राजकर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जायगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी—पहले नहीं।"

अनिरुद्धसिंह ज़ोर देकर कहते हैं—पहले नहीं। वह उन लोगों को चेतावनी देते हैं जो नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सुद का अन्त किये बिना ही आत्म-सुधार से समाज को बदल डालना चाहते हैं। समाज-सुधार का एक ही रास्ता है—सामाजिक सम्बन्धों को बदलना। आत्म-सुधार से सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न का अन्त नहीं हो सकता। 'प्रेमाश्रम' में उन्हीं अत्याचारी ज़मींदारों, रिश्वती राजकर्मचारियों, अन्यायी महाजनों और स्वार्थी बन्धुओं की कहानी लिखी गयी है जिनको प्रेमचन्द 'सेवा सदन' में ही वेश्यावृत्ति का जनक और पोषक बतला चुके थे।

'प्रेमाश्रम' पहले महायुद्ध के बाद के दौर का उपन्यास है। यूरोप की बड़ी-बड़ी ताक़तों ने युद्ध के ज़रिये अपना संकट हल करने की कोशिश की; लेकिन युद्ध से संकट हल नहीं हुआ। ग़ुलाम देशों की हालत और बुरी हो गयी। वहाँ की जनता को और भी दबा कर रखने के लिये पच्छिमी

ताक़तों ने ज़ोर-ज़ुल्म को बढ़ाया। आज़ादी चाहने वाली जनता को रौलट क़ानून और जलियानवाला बाग़ मिला। लेकिन दूसरों को ग़ुलाम बनाने वाले अब पहले-जैसे ताक़तवर नहीं थे। वे अब दुनिया को मनमाने ढंग से बाँटचूँट कर लूट न सकते थे। उन्हें ख़ास तौर से डर पैदा हो गया था, सोवियत रूस से। उस देश में मज़दूरों और किसानों ने ज़मींदारों और पूंजीपतियों का राज खतम कर दिया है—यह खबर दुनियाँ के सभी देशों में फैल गयी थी। इसे हिंदुस्तान की जनता ने भी सुना था, पढे-लिखे लोगों ने ही नहीं, गाँवों के किसानों ने भी। हिन्दुस्तान के लोग अंग्रेज़ों की ग़ुलामी का जुआं उतार फेंकने के लिये और भी कोशिश करने लगे।

प्रेमचन्द साहित्यकार की तटस्थता के हामी नहीं थे। वह यह उपदेश नहीं देते थे कि अगर जन-साधारण के आन्दोलन और संघर्षों को लेकर साहित्य रचा जायगा, तो वह अमर न होगा। उनका सिद्धांत था साहित्य-कार का कर्त्तव्य है कि वह जनता की सेवा करने के लिये साहित्य रचे। हिन्दुस्तान की बहुसंख्यक जनता किसानी करती है। इस जनता को छोड़ कर औरों के बारे में लिखने से उपन्यासकार अपने देश और युग का प्रतिनिधि कैसे होता? इसलिये उन्होंने किसानों के बारे में लिखा।

सन् २० और ३० के आन्दोलनों में किसानों के ज़मींदार-विरोधी संघर्ष को बराबर दबाकर रखने या उसे एकाध जगह सीमित करने की बराबर कोशिश की गयी थी। इन आन्दोलनों की असफलता का बहुत बड़ा कारण यह भी था कि देश की बहुसंख्यक किसान-जनता को अपनी माँगों के लिये लड़ने से रोका गया। प्रेमचन्द के लिये राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन तभी सफल हो सकता था जब वह करोड़ों किसानों की अपनी मांगों का आन्दोलन बन जाय। वह जानते थे कि किसानों के आन्दोलन से स्वाधीनता का आन्दोलन कमज़ोर न पड़ेगा; बल्कि उसे विजय की मंज़िल तक ले जायगा। हिन्दुस्तान की सामन्ती ताक़तें विदेशी प्रभुत्व का आधार थीं; इसलिये प्रेमचन्द के लिये आजादी का मतलब था, इस आधार को खत्म करना।

ज़मींदार अंग्रेज़ों के दलाल हैं—प्रेमचन्द ने इस बात को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में राय कमलानन्द से कहलाया है। रायसाहब ज्ञानशंकर से कहते हैं—

"यह जायदाद नहीं है, इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है? मैंने इसे बाहुबल से नहीं लिया। नवाबों के ज़माने में किसी सूबेदार ने इस इलाक़े की आमदनी वसूल करने के लिये मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपादृष्टि बनी रही। इस के बाद अंग्रेजों का ज़माना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राजद्रोह के समय पिता जी ने तन मन से अंग्रेज़ों की सहायता की। शक्ति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हक़ीक़त है।"

प्रेमचन्द ने यहां बड़ी ख़ूबी से दिखला दिया है कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई से ज़मींदारों के विरुद्ध संघर्ष का क्या सम्बन्ध था। प्रेमचन्द ने दिखलाया कि ज़मीन के वास्तविक स्वामी किसान हैं जब कि उसके मालिक बन बैठे हैं अंग्रेज़ और उनके दलाल। इसीलिये अंग्रेज़ों के बनाये हुए क़ानून—उनकी कायम की हुई कचहरियाँ और शान्ति और व्यवस्था की रखवाली पुलिस—किसानों को दबाने में सब से आगे रहते थे।

अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद और ज़मींदारों-जागीरदारों के आपसी सम्बन्ध को समझे बिना "प्रेमाश्रम" की रचना न हो सकती थी। प्रेमचन्द में यह समझ उनके अध्ययन और मनन से पैदा हुई थी। बिना इस समझ के वह ज्ञानसंकर और गायत्री, ज्वालासिंह और गौसखां, मनोहर और कादिर—इन तरह-तरह के पात्रों को एक जगह न तो इकट्ठा कर पाते, न उनके जीवन-सूत्रों को एक दूसरे से जोड़ पाते। हिंदी में एक तो किसानों की समस्याओं पर ज़्यादा उपन्यास लिखे ही नहीं गये, दूसरे जो लिखे भी गये हैं, उनमें प्रेमचन्द की सूझबूझ का अभाव है। इसीलिये आज तीस साल बाद भी "प्रेमाश्रम" हिंदी में अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

"प्रेमाश्रम" उपन्यास-रचना के साधारण नियमों को तोड़कर

रचा गया है। कौन है इसका नायक, कौन है इसकी नायिका ? जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उसके कथानक की शिथिलता दिखलाकर प्रेमचन्द को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचन्द को विश्व-साहित्यकार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उत्तर दे दिया था—"आजाद-रौ आदमी हूं, मसलेहतों का गुलाम नहीं।"
(हंस, मई १९३७; पृ. ९१४)

बड़े कलाकार अपने क़ायदे-क़ानून खुद बनाते हैं। प्रेमचन्द भी क़ायदे पढ़ कर उपन्यास लिखने न बैठे थे। 'प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की ज़िन्दगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में जगह न मिली थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उपपत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।

प्रेमचन्द ने बेगार करने वाले, हल जोतने वाले, प्लेग और सरकार का मुक़ाबला करने वाले किसानों को नायक बना दिया। मनोहर, बलराज, क़ादिर, दुखरन आदि इस उपन्यास के नायक हैं। ये नयी तरह के नायक हैं—गुण और अवगुण, दोनों से विभूषित। इनकी कहानी का आरम्भ किसी रमणी से आंख लड़ जाने से नहीं होता और न उस कहानी का अन्त नायक-नायिका के विवाह से होता है। लखनपुर का गाँव—संक्षेप में इस उपन्यास का नायक है; ज्ञानशंकर, गौसखां, कचहरी-क़ानून और पुलिस की जमात खलनायक है।

हिन्दी में इस तरह का उपन्यास किसी ने पहले लिखा न था। एक तो किसानों पर लिखना ही रसराज का अपमान करना था। उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था। प्रेमचन्द ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस धड़कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को अपना कथा-विषय बनाया जिससे भरपूर निगाह देखने का हियाव

ही बड़ों-बड़ों को न हुआ था। उन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान की साधारण जनता में साहस, धीरता और मनोबल के कौन से स्रोत छिपे पड़े हैं। प्रेम-चन्द ने अपना कथा-विषय चुना—सदियों से पिसते हुए दासों की चेतना को, जो अब जाग रही थी और उन के हृदय में इन्सान की तरह जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही थी। 'प्रेमाश्रम' लिखना एक अद्भुत साहस का काम था। साहित्य का झंडा लिये हुए प्रेमचन्द ऐसे मार्ग पर चल पड़े कि जिसे पहले किसी ने तै न किया था। उनकी प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उन्होंने जो साहस किया, वह दुःसाहस साबित नहीं हुआ। 'प्रेमाश्रम' एक अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास के रूप में आज भी जीवित है।

'प्रेमाश्रम' किसान-जीवन का महाकाव्य है। उसमें उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आस-पास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और ऊसरों और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।

यहाँ हमें दरवाज़े पर बैठा मनोहर बैलों के लिये कड़वी छाँटता दिखाई देता है। कसरत और लावनी का शौक़ीन बलराज अपनी लाठी में तेल लगा रहा है। डपटसिंह मनोहर से उन डिप्टी साहब की चर्चा करता है जिनके इजलास में इज़ाफ़ा लगान का मामला तै होना है; लेकिन जो ज़मींदार ज्ञानशंकर के दोस्त हैं। मनोहर सोचता है,कोई क़ानून ऐसा बनजाता जिससे इस तरह के मुक़दमे इन हाकिमों के यहाँ न जाते तो कितना अच्छा होता! क़ानून सब के लिये एक सा है; फिर वह हाकिमों से क्यों डरता है? मनो-हर का कहना है—"हाकिम लोग आप भी तो ज़मींदार होते हैं, इसलिये वह ज़मींदारों का पच्छ करते हैं।" फिर वह उम्मीद करता है कि शायद लाट साहब की पंचायत में किसानों की फ़र्याद सुनी जाय; लेकिन डपटसिंह इस आशा पर पानी फेर देते हैं। कहते हैं—"यहां भी तो सब ज़मींदार ही होते हैं, काश्तकारों की फिरियाद कौन सुनेगा?"

किसानों के भय का कारण यह है कि पुरान जमींदार जटाशंकर के

ज़माने से उसके बेटे ज्ञानशंकर के ज़माने में ज़ोर-ज़ुल्म और भी बढ़ गया है। जटाशंकर को अपनी इज़्ज़त का बड़ा ख्याल रहता था। लड़कियों का विवाह हो तो ठाठ-बाट से, उत्सव मनाये जायँ तो धूमधाम से, घर से निकलें तो पालकी पर चढ़कर। लेकिन ज्ञानशंकर के लिये पैसा ही इज़्ज़त है। वह एक नये ज़माने का ज़मींदार है जब महायुद्ध खत्म हो चुका था और सारे हिन्दुस्तान में दमन और लूट-खसोट का दौरदौरा था। वह अपने बाप का श्राद्ध भी करता है तो सोच-समझ कर कि पैसा ज़्यादा खर्च न हो जाय। अपनी 'रियासत' का इन्तज़ाम करने में वह चचा-ताऊ के रिश्ते भूल जाता है, उसके लिये पैसे का रिश्ता ही सबसे बड़ा रिश्ता है। वह अपने भतीजे को ही जेल भिजवाना चाहता है लेकिन जब वह बरी हो जाता है, तो उसके श्रेय में हिस्सा बटाने भी पहुंच जाता है। उसका भाई अमरीका पढ़ने गया था। जब वह लौट कर आता है तो उसे खुशी नहीं होती, उसे डर लगता है कि यह जायदाद में हिस्सा न मांगे। उसका ससुर निःसन्तान है, इसलिये वह उसकी ज़मींदारी पर भी दाँत लगाये हुए है। वह उसे ज़हर देकर मार डालने में भी आगा-पीछा नहीं करता, ससुर न मरा तो इसमें उसका दोष नहीं। उसके एक साली है गायत्री, जिसकी अपनी ज़मींदारी है। ज्ञानशंकर साली और ज़मींदारी दोनों को हड़पने की काफ़ी कोशिशें करता है।

ज्ञानशंकर अपने वर्ग का प्रतिनिधि-पात्र है। वह जितना धूर्त है, उतना चतुर नहीं। इसलिये उसकी बहुत कम योजनाएं सफल हो पाती हैं। वह जितना धन का लोभी है, उतना ही कामी भी। इसलिये उसकी कामुकता कभी-कभी उसके बने-बनाये खेल को बिगाड़ देती है। वह अपना काम बनाने के लिये दुःसाहस कर सकता है; लेकिन वह दूसरों का चरित्र समझने में असमर्थ है। इसलिये उसे दूसरों से अपनी निन्दा सुननी पड़ती है। वह कपटी, छली और दग़ाबाज है; लेकिन उसमें हिम्मत चोरों के बराबर भी नहीं है। उसकी कायरता पाठक की सहानुभूति को दूर कर देती है। वह जितना कायर है, उतना ही कठोर और निर्दयी भी है। वह लखनपुर

के किसानों का मुख्य प्रतिद्वंद्वी है लेकिन उनके सामने वह अपने पैरों खड़ा नहीं होता। उसे क़ानून और पुलिस की बैसाखियों से खड़ा रखनेवाली ताक़त अंग्रेज़ी राज की है।

प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में ज्ञानशंकर तमाम खलपात्रों का सिरमौर है। उसके चित्रण में प्रेमचन्द ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। कथानक को सुसम्बद्ध रखने के लिए भी वह कथाकार की बड़ी सहायता करता है।

इसके विरुद्ध लखनपुर की जनता है, जो उससे उतनी ही भिन्न है जितनी मौत से जिन्दगी।

प्रेमचन्द ने बलराज को हिंदुस्तान के किसान-नौजवानों का प्रतिनिधि बनाया है। वह कसरत-कुश्ती का शौक़ीन है, गाना-बजाना, दोस्तों में गपशप करना उसे पसन्द है। दुनियाँ का अनुभव कम है, इसलिये उतावलापन उसमें ज्यादा है। वह एक नये आदर्श से प्रभावित है, जिसके अनुसार हर इन्सान को इंसान की तरह रहने का हक़ मिलना चाहिए। वह किसी भी तरह का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह उस लोहे की तरह है जो आग में तप कर इस्पात बनने की क्षमता रखता है।

गौस खां ने, जब बेदखली की धमकी दी तो मनोहर ने जवाब दिया—"बेदखली की धमकी दूसरों को दें, यहाँ हमारे खेतों के मेड़ पर कोई आया तो उसके बाल बच्चे उसके नाम को रोयेंगे।

बलराज इसी मनोहर का बेटा है। उसने पढ़ना-लिखना भी सीखा है; अखबारों में बदलती हुई दुनियाँ का हाल भी वह जानता है।

डपटसिंह जब मज़ाक करता है—"बलराज से कहो, सरकार के दरबार में हम लोगों की ओर से फ़िरियाद कर आये।"

तब मज़ाक में किसानों की बेबसी के छिपे हुए भाव को देखकर बलराज उत्तर देता है—

"तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो, जानो कास्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिये बनाया गया है। लेकिन

मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में कास्तकारों ही का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।

प्रेमचन्द का हृदय क्षुद्र राष्ट्रवाद से ऊपर था। वह जानते थे कि इन्साफ़ और नयी जिन्दगी के लिये तमाम दुनियाँ की आम जनता जो लड़ाई लड़ रही है, हिन्दुस्तान का स्वाधीनता-आन्दोलन उसी का एक हिस्सा है। वह हिन्दुस्तान के लोगों में एक नया भाव पैदा होते देख रहे थे कि दुनियाँ के तमाम मेहनत करने वाले लोग भाई-भाई हैं। बलराज में उन्होंने इसी नयी चेतना की किरनें फूटती दिखाई हैं।

बलराज दुनियाँ के तमाम मेहनत करने वालों को अपना भाई समझता है। इसीलिये वह खुद हिन्दुस्तान के ग़रीब किसानों और खेत-मज़दूरों के लिए लड़ने मरने के लिये तैयार रहता है।

मनोहर, बलराज और हलवाहा रंगी चमार खाना खाने बैठते हैं। तीनों की थालियों में जौ की मोटी रोटियाँ, अरहर की दाल और बथुए का साग है। बलराज की माँ ने एक कटोरा दूध उसके सामने रख दिया। औरों को दूध क्यों नहीं मिला? इसलिये कि बाक़ी दूध बेगार में चला गया था। बलराज इस पर बिगड़ उठता है। वह एक नया सिद्धांत पेश करता है—"जो हम से अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिये।" उसे दूध-घी मिले और उसका हलवाहा सूखी रोटियों से ही संतोष करे—"ऐसा दूध-घी खाने पर लानत है।"

गायत्री पर घात लगानेवाले, भाई के घर आने से दुःखी होनेवाले किसानों पर क्रूर-अत्याचार करनेवाले ज्ञानशंकर की चरित्र-कालिमा के मुक़ाबले में बलराज की यह मानवता घी के दिये जैसी प्रकाशमान दिखाई देती है।

किसानों में यह मानववादी चेतना ज़मींदारों और हाकिमों को भयभीत कर देती है। किसानों को आतंकित करने के लिए वे उन पर तरह तरह

से अत्याचार करते हैं। डिप्टी का दौरा होता है तो चपरासी एक किसान के पेड़ की लकड़ियाँ उठा ले जाते हैं। वह ठंढ में दिन कैसे काटेगा। इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। बकरीद मनाने के लिए कादिर मियाँ ने जो बकरा पाला था वह हाकिमों के पेट में पहुँच जाता है। प्रेमचन्द इस बात का संकेत करते हैं कि इस जुल्म के शिकार हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं। पसारी की दूकान से माल लूटा जाता था, उसकी कमी वह किसानों से ब्याज में पूरी करता था। हाकिमों को रोगी, नीरोग, बूढ़े-बच्चे किसी का लिहाज़ नहीं। एक बूढ़ी अपने बेटे के साथ गाड़ी में अस्पताल जा रही थी, उसे उतारकर गाड़ी में लकड़ियाँ लादते उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं होता।

एक बार हाकिम के आने पर गाँव के किसान इकट्ठे किये जाते हैं। बलराज किसी काम से गया है। आने में देर होती है। दो सिपाही उसे पकड़ लेते हैं और उसे बाँधना चाहते हैं, तभी मनोहर—"बाज की तरह टूटकर, बलराज के पास पहुंचा और दोनों कांस्टेबिलों को धक्का देकर बोला—छोड़ दो, नहीं तो अच्छा न होगा। इतना कहते-कहते उसकी ज़बान बन्द हो गई और आँखों से आँसू निकल पड़े।"

कुछ आलोचक कहते हैं कि प्रेमचन्द में मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है। मनोविज्ञान का अर्थ विकृत काम-विकार ही न हो तो यह भी बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है। बेटे की दुर्दशा देख कर बाप अपने को रोक नहीं पाता। तैश में आकर सिपाहियों को धक्का देता है; लेकिन दूसरे ही क्षण अपनी बेबसी समझ कर रोने लगता है।

ज्ञानशंकर लखनपुर के आसामियों पर इज़ाफ़ा-लगान का दावा करता है। परिस्थितियां किसानों की चेतना को और पैना करती हैं और वे अपना एका और मजबूत करते हैं और ज़मींदार का मुक़ाबला करने की ठानते हैं। गाँव में ताऊन फैल जाता है; लेकिन हाकिमों-ज़मींदारों की तरफ़ से कोई रियायत नहीं होती। उनकी ज़िन्दगी कितनी कड़वी हो चुकी है, इसका अन्दाज़ इस बात से लग सकता है कि जब ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर डपटसिंह के पास पहुँचते हैं, जिसका एक लड़का जाता रहा है और दूसरा

जाने वाला हूँ, तो वह कहता है—

"क्या जाफा वसूल करने आये हो ? उसी से ले लीजिए जो वहाँ धरती पर पड़ा हुआ है। वह आपकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा। गौसखाँ से कह दीजिए, उसे पकड़ ले जायँ, बाँधें, मारें, मैं न बोलूँगा। मेरा खेती-बारी से, घर-द्वार से इस्तीफ़ा है।"

इस किसान के लिए जिन्दगी ज़हर का घूँट बन गई है। सहन करने की सामर्थ्य खो चुका है। उसका सारा आवेग उसके व्यंग्य-वचनों में फूट पड़ता है जिससे सुनने वाला तिलमिला उठे। प्रेमचन्द का व्यंग्य उपन्यासों में पात्रों का रोष, क्षोभ और प्रतिहिंसा को प्रकट करने का साधन है। जितना ही किसान हाथ उठाने में असमर्थ होकर मन में घुटता है, उतना ही उसका व्यंग्य आँच में तपकर पैना हो जाता है।

इन तमाम कठिनाइयों के बावजूद गाँव वाले जीत गए। इनकी एकता के आगे सरकारी कचहरियों को झुकना पड़ा। लेकिन मुक़दमा हारने पर भी ज़मींदार शक्तिशाली है। प्लेग की वजह से लोगों ने अपने झोंपड़े ज़मींदार के बाग में डाले थे। ज्ञानशंकर उनमें आग लगवा देता था। इसके बाद उसने ताल का पानी बन्द कराने की कोशिश की। जिन चीज़ों पर किसानों का हज़ारों साल से पंचायती हक़ था, ज़मींदार उन्हें भी हड़पने की कोशिश कर रहा था। प्रेमचन्द लिखते हैं—"लोगों को कभी स्वप्न में भी यह अनुमान न हुआ था कि ज़मींदार इतनी जबर्दस्ती कर सकता है। उनका चिरकाल से इस पर अधिकार था। पर आज उन्हें ज्ञात हुआ है, इस पर हमार स्वत्व नहीं है।"

कादिर हाथ-पैर जोड़कर किसानों को हमेशा मनाता रहा है कि वे झगड़ा न करें। जब तालाब को लेकर ज़मींदार के आदमी फ़िसाद करना शुरू करते हैं, तब सुलह की राह न देखकर वह खिसक जाना चाहता है। लेकिन सुक्खू चौधरी उसका हाथ पकड़कर रोक लेता है और कहता है कि निपटारा होने तक रुकना पड़ेगा। तब क्या झगड़ा मोल लिया जाय ? गाँव के किसानों की एकता किस तरह मज़बूत हो रही है, यह कादिर और

सुक्खू की संक्षिप्त बातचीत से मालूम हो जाता है।

"कादिर खाँ—तो क्या कहते हो लाठी चलाऊँ ?

सुक्खू—और लाठी है किस दिन के लिए ?

कादिर—किसके बूते पर लाठी चलेगी ? गाँव में रह कौन गया ? अल्लाह ने पठ्ठों को चुन लिया !

सुक्खू—पठ्ठे नहीं हैं, न सही, बूढ़े तो हैं। हम लोगों की ज़िन्दगानी किस रोज़ काम आयगी ?"

परिस्थितियों की मार खाते-खाते किसान अब प्रतिरोध के लिए तैयार हो उठे थे। सुक्खू चौधरी उन लोगों में से थे जो किसी भी हालत में ज़मींदार का विरोध नहीं करना चाहते थे। लेकिन मजबूर होकर उन्हें भी मनोहर और बलराज की तरह बातें करनी पड़ीं।

ज़मींदार पर फिर दावा हुआ और किसान फिर जीते। सत्यनारायण की कथा हुई, ब्राह्मणों का भोज हुआ। गौस खाँ ने दरोग़ा से मिलकर सुक्खू के यहाँ कोकोन बरामद करा दी और उन्हें दो साल की क़ैद की सज़ा सुना दी गई।

गाँव में एक पुलिस-अफ़सर आता है। लोगों से बेगार कराई जाती है। कादिर खाँ बलराज को याद करते हैं, उसके अखबार में लिखी बातों को याद करते हैं—

"देखते तो हो, बलराज के अखबार में कैसी-कैसी बातें लिखी रहती हैं। यह सब अपनी तक़दीर की खूबी है।"—और रोने लगते हैं।

प्रेमचन्द ने कादिर-जैसे किसानों के पुराण-पँथी विचारों की दीवार को जर्जर होकर ढहता हुआ दिखाया है। वह अन्याय का विरोध नहीं करना चाहते; हर चीज़ अल्लाह और किस्मत के नाम पर सह लेना चाहते हैं; लेकिन बलराज की कही हुई बातों ने मन में एक नया भाव पैदा कर दिया है। एक देश है जहाँ किसान घास छीलने के लिए मजबूर नहीं किये जाते। यह भाव उन्हें अपनी 'तक़दीर' पर आँसू बहाने के लिए विवश करता है।

सुक्खू की संक्षिप्त बातचीत से मालूम हो जाता है।

"कादिर खाँ—तो क्या कहते हो लाठी चलाऊँ ?

सुक्खू—और लाठी है किस दिन के लिए ?

कादिर—किसके बूते पर लाठी चलेगी ? गाँव में रह कौन गया ? अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया !

सुक्खू—पट्ठे नहीं हैं, न सही, बूढ़े तो हैं। हम लोगों की जिन्दगानी किस रोज़ काम आयगी ?"

परिस्थितियों की मार खाते-खाते किसान अब प्रतिरोध के लिए तैयार हो उठे थे। सुक्खू चौधरी उन लोगों में से थे जो किसी भी हालत में ज़मींदार का विरोध नहीं करना चाहते थे। लेकिन मजबूर होकर उन्हें भी मनोहर और बलराज की तरह बातें करनी पड़ीं।

ज़मींदार पर फिर दावा हुआ और किसान फिर जीते। सत्यनारायण की कथा हुई, ब्राह्मणों का भोज हुआ। गौस खाँ ने दरोग़ा से मिलकर सुक्खू के यहाँ कोकीन बरामद करा दी और उन्हें दो साल की कैद की सज़ा सुना दी गई।

गाँव में एक पुलिस-अफ़सर आता है। लोगों से बेगार कराई जाती है। कादिर खाँ बलराज को याद करते हैं, उसके अखबार में लिखी बातों को याद करते हैं—

"देखते तो हो, बलराज के अखबार में कैसी-कैसी बातें लिखी रहती हैं। यह सब अपनी तक़दीर की खूबी है।"—और रोने लगते हैं।

प्रेमचन्द ने कादिर-जैसे किसानों के पुराण-पँथी विचारों की दीवार को जर्जर होकर ढहता हुआ दिखाया है। वह अन्याय का विरोध नहीं करना चाहते; हर चीज़ अल्लाह और किस्मत के नाम पर सह लेना चाहते हैं; लेकिन बलराज की कही हुई बातों ने मन में एक नया भाव पैदा कर दिया है। एक देश है जहाँ किसान घास छीलने के लिए मजबूर नहीं किये जाते। यह भाव उन्हें अपनी 'तक़दीर' पर आँसू बहाने के लिए विवश करता है।

दुखरन साफ़ की हुई ज़मीन को लीपने से इन्कार करता है। उसे बुरी तरह जूतों से पीटा जाता है। कादिर खाँ अपना सिर आगे कर देते हैं कि पहले इसे पीट लो। धक्का देकर उन्हें गिरा दिया जाता है। तभी प्रेमशंकर आते हैं और वे प्रेम से सब मसले तै करने के पक्षपाती हैं। वह लोगों से काम करने को कहते हैं। दुखरन ने घर आकर शालिगराम की बटिया को एक तरफ़ फेंक दिया। ईश्वर से उसका विश्वास उठ गया था। तहसीलदार प्रेमशंकर से कहता है—"हम लोग एक तौर पर आपके मददगार हैं, रिआया को सताकर, पीसकर मज़बूत बनाते हैं और आप-जैसे कौमी हमदर्दों के लिए मैदान साफ़ करते हैं।" प्रेमशंकर के पास इस नीचता का कोई उत्तर नहीं है। प्रेमचन्द ने दृढ़ता से सत्य को चित्रित करते हुए सिद्ध किया है कि किसानों को जिनसे निपटना पड़ता है, वे हृदय-हीन राक्षस हैं।

गौस खाँ गाँव की चरावर पर रोक लगाता है। जिन मैदानों में किसानों के पुरखे सदा से अपने जानवर चराते आये थे, उन पर अन्याय से अब ज़मींदार अधिकार करना चाहता है। बलराज की माँ वहाँ अपने जानवर लिये पहुँचती है। उसे सुनाया जाता है कि सरकारी हुक्म है कि अब कोई जानवर वहाँ न चरे।

जो काम सुमन न कर सकी थी, वह बलराज की माँ बिलासी करती है। वह गाँव की पंचायती ज़मीन के लिए लड़ती है। प्लेग, मुकदमा, आग-ज़नी–इन सबसे निपटकर बिना [illegible]—

"कैसा सरकारी हुकुम ? सरकार की ज़मीन नहीं है।...हमारे मवेसी सदा से यहाँ चरते आये हैं और सदा यहीं चरेंगे। अच्छा सरकारी हुकुम है, आज कह दिया चरावर छोड़ दो, कल कहेंगे अपना-अपना घर छोड़ो, पेड़ तले जाकर रहो। ऐसा कोई अन्धेर है ?" गौस खाँ के कहने से उसके जानवर घेर लिए जाते हैं और जमींदार के चाकर उन्हें मवेशीखाने ले चलते हैं। बिलासी रास्ता रोककर खड़ी हो जाती है।

फिर गौस खाँ से यह बातचीत होती है।

"गौस खाँ—न हटे तो इसकी मरम्मत कर दो।

बिलासी—कहे देती हूँ इन जानवरों के पीछे लहू की नदी बह जायगी। माथे गिर जायँगे।

फैजू—हटती है या नहीं चुड़ैल ?

बिलासी–तू हट जा, दाढ़ीजार।"

फैज के धक्के से गिरकर वह बेहोश हो जाती है लेकिन जैसा उसने कहा था—माथे गिर गए। गौस खाँ को जान से हाथ धोना पड़ा। मनोहर औरत की इज़्जत के लिए मर मिटा।

ज्ञानशंकर किसानों को इतना सताता है कि मनोहर अपने को धिक्कारने लगता है। गाँव के लोग उसके विरुद्ध हो जाते हैं, बलराज भी मनोहर का विरोध करने लगता है। ज्ञानशंकर पुलिस को मिलाकर बहुत से किसानों को हत्या के मामले में फँसा देता है। कादिर गाँव वालों की आलोचना का उत्तर देते हुए मनोहर के समर्थन में कहते हैं–"यारो! ऐसी बातें न करो, बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए यह सब कुछ किया। उसके जीवट और हियाव की तारीफ़ तो नहीं करते और उसकी बराई करते हो! हम सब-के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।"

कादिर के ये शब्द बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द पाठक को याद दिलाते हैं कि मनोहर ने जो कुछ किया, वह अपनी स्त्री की इज़्ज़त रखने के लिए ही नहीं, वह सभी के हक की लड़ाई थी, जिस हक को ज़मींदार छीनना चाहता था। प्रेमचन्द ने बड़े कलात्मक ढंग से ये शब्द उस कादिर से कहलाये हैं जो हमेशा मनोहर और बलराज को रोका करता था, उन्हें ईश्वर का भरोसा करके अन्याय सहने का उपदेश दिया करता था। कादिर ने ज़िन्दगी के स्कूल में नया सबक सीखा था–अन्याय का विरोध न करना कायरता है। इसीलिए वह कहता है–"हम सब-के-सब कायर हैं, वही एक मर्द है।"

लेकिन मनोहर को इससे सन्तोष न हुआ। वह अपने ही उन भाइयों से दुर्व्यवहार की आशा न करता था। जिनके लिए उसने क्या कुछ न सहा था। वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। धीर वीर मनोहर मानसिक

दृढ़ता की सीमा पार कर गया था। हर व्यक्ति की सहनशीलता की सीमा होती है। उस सीमा तक पहुँचकर वह टूट जाता है।

प्रेमचन्द के किसान देवता नहीं हैं; वे मनुष्य हैं। उनमें कमज़ोरियाँ हैं; वे उनसे लड़ते हैं। कभी जीतते हैं, कभी हारते हैं। प्रेमचन्द ने चरित्र का उत्थान-पतन दिखाने में, एक साहसी लेकिन अति व्यथित किसान का हृदय पढ़ने में अपनी ज्वलंत प्रतिभा का परिचय दिया है और प्रेमचन्द ही विधवा विलासी में इस गर्व-भाव का उदय होना दिखा सकते थे कि विधवा हुई तो क्या उसने अन्याय के सामने कभी सिर नहीं झुकाया।

वह कहती है—"मैं विधवा हो गई तो क्या, घर सत्यानास हुआ तो क्या, किसी के सामने आँख तो नीची नहीं हुई।"

लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ। प्रेमचन्द एक विशाल संघर्ष को निर्मम यथार्थवादी की तरह उसके तर्क-संगत परिणाम की तरफ बढ़ाकर ले चलते हैं। अमन और कानून की ताकतें अब भी बहुत मज़बूत हैं। लखनपुर के किसान अकेले पड़ जाते हैं। किसी दूसरे गाँव में जूँ तक नहीं रेंगती, क्योंकि अभी उनका कोई संगठन नहीं है। शहर से उन्हें कोई मदद नहीं मिलती, क्योंकि मज़दूरों से उनका एका नहीं है। सन् १९-२० में जब प्रेमचन्द ने यह उपन्यास लिखा था, तब ऐतिहासिक परिस्थिति ऐसी ही थी। प्रेमशंकर की प्रेम से सब झगड़े निपटाने की नीति किसानों को एक तकलीफ़ से भी नहीं बचा सकी।

बलराज और कादिर को काला पानी हो गया। बिलासी पर बकाया लगान का दावा किया गया। उसके जानवर, जिन्हें चरावर में ले जाने के लिए वह लड़ी थी, कुर्क कर लिए गए। चपरासियों द्वारा खुद विलासी बुरी तरह पीटी गई।

किसानों के पास मालगुज़ारी देने के लिए कुछ न था। उन पर ज्ञान-शंकर किस तरह ज़ुल्म कराता है, इसका वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—

"फ़ैज़ुल्लाह ने सख्ती करनी शुरू की। किसी को चौपाल के सामने

धूप में खड़ा करते, किसी को मुश्कें कसकर पिटवाते। दीन नारियों के साथ और भी पाशविक व्यवहार किया जाता, किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जातीं, किसी के जूड़े नोचे जाते। इन अत्याचारों को रोकने वाला अब कौन था? सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया।"

यथार्थवादी चित्रण का इससे अच्छा निर्वाह और क्या हो सकता था? 'सेवासदन' की तरह यह उपन्यास भी वास्तव में दुःखान्त है। सत्याग्रह भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया। ऐसा मार्ग जो अन्याय का दमन कर सके, किसानों के सामने दिखाई न देता था। यह ट्रेजेडी व्यक्तिगत या घरेलू समस्याओं को लेकर लिखे हुए दुःखान्त उपन्यासों और नाटकों से कहीं ज्यादा विशद और मार्मिक है। यह एक युग की ट्रेजेडी है, जब किसान पर अत्याचार बढ़े हैं, उसने उनका प्रतिरोध करने की कोशिश की है लेकिन सफल नहीं हो पाया। यह दुःखान्त परिणति एक दीर्घकालीन और संहारकारी संघर्ष के बाद हुई थी। एक तरफ लखनपुर का गाँव, अपनी शक्ति बटोरता है, लड़ता है, परास्त होता है फिर बिखर जाता है, दूसरी तरफ़ ज्ञानशंकर और कारिन्दे, थानेदार और तहसीलदार, जज, वकील और पेशकारों की फ़ौज है जो अपनी सारी ताकत से इस गाँव को कुचल देना चाहती है। प्रेमचंद ने इस संघर्ष को विस्तार से चित्रित किया है और ऐसा प्रभावशाली कौशल, घटना-क्रम को सजीव कर देने की ऐसी क्षमता खुद उनके उपन्यासों में भी कम देखी जाती है।

इस संघर्ष में दोनों प्रतिद्वंद्वी बराबर के नहीं हैं। ज़मींदार और राजसत्ता असंगठित किसानों के मुकाबले में बहुत शक्तिशाली हैं। फिर भी पाठक की पूरी सहानुभूति लखनपुर के निवासियों के साथ रहती है, इसलिए कि वे नये जीवन के लिए, एक नये हिन्दुस्तान के लिए लड़ते हैं। जहाँ तक किसानों का सम्बन्ध है, उनकी कहानी में पाठक की रोचकता कम नहीं होने पाती। और अन्त में प्रेमचन्द, १९२० में ही, पाठक के सामने यह निष्कर्ष रखते हैं -"सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण

सिद्ध हो गया।"

इसके बाद वही काल्पनिक समाधान है जिसने 'सेवा-सदन' को कमज़ोर बनाया था। 'प्रेमाश्रम' का समाधान और भी कमज़ोर है। जो प्रेमशंकर लखनपुर को एक आदर्श गाँव बना देते हैं, किसानों के संघर्ष के दिनों में न उन्हें संगठित कर पाते हैं, न दमन और ज़ुल्म का मुकाबला करने में उनका साथ देते हैं। वह विदेश में पढ़े हुए एक अच्छे-खासे भले-मानुस हैं जो सपने देख सकते हैं लेकिन जीवन संघर्ष की आँच सहने में असमर्थ हैं। वह 'प्रेमाश्रम' के सबसे निर्जीव पात्रों में से है, खासकर उन तपे हुए और मार खाए हुए किसानों के मुकाबले में जिनके गाँव को वह स्वर्ग बना देते हैं। उपन्यास का अन्त अस्वाभाविक ही नहीं है, वह उसके प्रभाव को भी कम कर देता है। जिन शक्तियों ने लखनपुर के किसानों को पीस डालने में कुछ उठा नहीं रखा, वे सब बरकरार रहती हैं। उस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता जिसमें अंग्रेज़ों के दलाल किसानों की कमाई का फल कुछ खुद लूटते थे और बाकी अंग्रेज़ स्वामियों को भेंट कर देते थे। तब लखनपुर एक सुखी और आदर्श गाँव कैसे बन गया?

उपन्यास के काल्पनिक अन्त का यही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है कि उससे प्रेमचन्द की आशाएँ ज़ाहिर होती है कि भविष्य में वह किस तरह के गाँव चाहते थे। उससे यह ज़ाहिर होता है कि प्रेमचन्द समझते थे कि ज़मींदारी-प्रथा खत्म हो जाय तो किसानों का जीवन इस तरह सुखी हो सकता है। यह मान लेने पर भी ज्ञानशंकर-संबंधी कथा को जितना विस्तार दिया गया है, वह अनावश्यक ही साबित होता है और उससे उपन्यास की मूल कथा का प्रभाव काफ़ी कम हो जाता है।

इस तरह की ग़लतियों से मामूली कलाकार भी बच सकता है लेकिन मुख्य बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला "हीरोइक" उपन्यास है जिसे लिखना एक असाधारण कलाकार ही का काम था। उसमें जनता की वीरता का चित्रण है, बिना शब्दों की झंकार-टंकार का सहारा लिये हुए, बिना अलंकारों से साहित्य की आत्मा को ढाँके हुए। केवल तुलसीदास ने

भारतीय जनता के शौर्य का चित्रण किया था—पौराणिक गाथाओं के पात्रों द्वारा। प्रेमचन्द तुलसीदास की त्याग, सहृदयता और शूरता की परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।

'प्रेमाश्रम' की कला किस बात में हैं ? कथा गढ़ने में, कथोपकथन में, चरित्र-चित्रण में ? इन सबमें भी लेकिन इन सबसे अलग भी। उस कला का विश्लेषण उपन्यास के इन अंगों का अलग-अलग विवेचन करने से नहीं हो सकता। वह कला जीवन का संपूर्ण चित्र देने में है, उस चित्र से जीवन को एक नई गति देने में है।

प्रेमचन्द हमें ठेठ किसानों के बीच ले जाते हैं। उनके अलाव, उनके खत और ताल, उनके अखाड़े और लावनी-खयाल, उनके अन्ध-विश्वास और नये जीवन के कसमसाते हुए भावांकुर—'प्रेमाश्रम' में यह सब-कुछ सजीव है, उसके पृष्ठों में इतिहास जी रहा है। प्रेमचन्द किसानों की प्राचीन परंपराएँ दिखाते हैं तो यह भी कि कहाँ उनकी कड़ियाँ टूट रही हैं। प्रेमचन्द की कला इस बात में है कि वे हिन्दुस्तान के बदलते हुए किसान का चित्र खींच सके हैं। घटनाएँ साधारण हैं लेकिन उनसे वह अपने पात्रों का पुरानापन और नयापन, उनको पीछे ठेलने वाली और आगे बढ़ाने वाली विशेषताएँ प्रकट करते हैं। पहाड़ की तस्वीर खींचना आसान होता है; नदी के बहाव को चित्रित करना मुश्किल। प्रेमचन्द ने यथार्थ के बहाव को पकड़ लिया है। उसे उन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए 'प्रेमाश्रम' में सुरक्षित कर दिया है।

प्रेमचन्द की कला उपन्यास की चित्रमयता में है। प्रेमचन्द अपने पात्रों पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने नहीं बैठ जाते जैसा कि कुछ अद्भुत कलाकार किया करते हैं। वह अपने पात्रों से लंबी-लंबी स्पीचें भी नहीं दिलवाते जिनमें थोथे तर्क-जाल का विस्तार करके उपन्यास को वज़नी बना दिया जाता है। प्रेमचन्द पात्रों के, घटनाओं के, दृश्यों के ऐसे चित्र आँकते हैं कि पाठक उन्हें हमेशा याद रखता है और वे उसकी स्मृति में छिपे हुए उसके विचारों और कर्मों को प्रभावित किया करते हैं।

प्रेमचन्द ने "मनोवैज्ञानिक" कलाकारों की तरह इस उपन्यास को

तर्क-जाल और अपनी कमेंट्री से लाद दिया होता तो वह साधारण जनता में कभी इतना लोकप्रिय न होता। वह जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे चित्रों के द्वारा ही कहते हैं। पात्रों के संवादों में तर्क-जाल भरने वाले सज्जन वास्तव में अपने यथार्थ जीवन के अज्ञान को छिपाते हैं। उनका अनुभव बहुत ही सीमित और संकुचित होता है लेकिन वह उसे हिन्द महासागर की तरह गहरा दिखाना चाहते हैं। प्रेमचन्द में यथार्थ जीवन की गहरी जानकारी है; उनके उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन, सुलझा हुआ दृष्टिकोण और गंभीर विचार मिलते हैं।

प्रेमचन्द के दृष्टिकोण की खूबी इस बात में है कि वह समाज में इस बात को देख सकते हैं कि कौन सी चीज़ मर रही है और कौन सी चीज़ उग रही है। वह समाज को एक गतिशील क्रम के रूप में देखते हैं। यहाँ स्थिरता नहीं है लेकिन क्षणभंगुरता का नाम संसार नहीं है। यहाँ कुछ शक्तियाँ पतन-शील हैं तो कुछ शक्तियाँ उदयशील भी। लखनपुर के किसान उगने वाली शक्ति हैं। वे निरस्त्र हैं, संघर्ष में मार खा जाते हैं, भयानक यातनाएँ सहते हैं, अन्ध विश्वासों और कुसंस्कारों से पूरी तरह पीछा नहीं छुड़ा पाते लेकिन भविष्य उन्हींका है; समाज की उदीयमान शक्ति वही हैं। ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, गौस खाँ वगैरह भले ही शक्तिशाली दिखाई दें लेकिन उनका भविष्य अन्धकारमय है। वे समाज की प्रगति को रोकने वाली मरणशील शक्ति हैं। इन दो तरह के दलों में वर्षों तक संघर्ष चलता है और उसके दौरान में नई नैतिकता पुरानी सामन्ती संस्कृति को चुनौती देती है, उससे टक्कर लेती है और दृढ़ होती है।

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन इसी संसार में जूझने वाले मनुष्यों के दुःख-सुख, आशा-निराशा, विजय-पराजय का चित्रण करने में प्रकट होता है। वह पाठक को यह नहीं सिखलाते कि यह संसार झूठा है, इसमें रहने वाले मनुष्य झूठे हैं, उनका संघर्ष झूठा है। वह दिखलाते हैं कि मनुष्य जिन परिस्थितियों में पैदा हुआ है, उनसे प्रभावित होते हुए भी उन्हें बदलने की कोशिश करता है।

प्रेमचन्द का गंभीर चिन्तन, उनके ऊँचे विचार एक नई मनुष्यता, एक नई नैतिकता को चित्रण करने में प्रकट होते हैं, जो हिन्दुस्तान के किसानों में किरण की तरह फूट रही थी। इस घटना का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व था। हिन्दुस्तान को आधार बनाकर, हिन्दुस्तान के जान-माल की मदद से अंग्रेज़ों ने ऐसा साम्राज्य क़ायम किया था जिसमें सूरज नहीं डूबता था। उस साम्राज्य के स्तंभ थे, अंग्रेज़ों के दलाल, भारत के राजा, जागीरदार और ज़मींदार। हिन्दुस्तान के किसान उनके ख़िलाफ़ संघर्ष करके सिर्फ़ अपने सुखी जीवन के लिए न लड़ रहे थे, बल्कि वह संसार के सभी दासों की शान्ति और स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का ऐसा उपन्यास लिखा था।

यह उपन्यास असहयोग-आन्दोलन के बाद छपा, यह हमारा दुर्भाग्य था। फिर भी उसने स्वाधीनता-आन्दोलन को दृढ़ करने के लिए उसे एक नई गति देने में, किसान-समस्या को आज़ादी की मूल समस्या के रूप में स्वीकार कराने में बहुत बड़ा काम किया है। ऐसा सामाजिक महत्त्व विरले ही उपन्यासों का होता है।

प्रेमचन्द की कला उनकी सजीव शब्दावली, वर्णन की काव्यमयता, उनके गद्य के वह सजीव अंश, जिन्हें पाठक कविता की पंक्तियों की तरह रट लेते हैं—इन सबमें प्रकट होती है। प्रेमचन्द की कला मनोहर, बलराज, कादिर के सजीव चित्रण में प्रकट होती है जिनसे बिछुड़ने पर एक आत्मीय के बिछोह का-सा दुःख होता है।

किसी समय जब प्रेमचन्द के मनोहर, बलराज और कादिर का जीवन बदल जायगा और लखनपुर वास्तव में एक सुखी गाँव बनेगा, तब मनोहर, बलराज और कादिर की सन्तान 'प्रेमाश्रम' पढ़ेगी और कहेगी—हाँ हमारे पुरखे वीर थे; उन्होंने अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाया; वे अपना रक्त न बहाते तो यह गाँव सुखी न होता। और यह सब कहते-सोचते हुए उसका हृदय प्रेमचन्द के प्रति कृतज्ञता से भर उठेगा।

४

'निर्मला' और 'ग़बन'

'निर्मला' और 'ग़बन' प्रेमचन्द के ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें नारी-समस्या प्रधान है।

'सेवा सदन' को देखते हुए 'निर्मला' की कहानी का क्षेत्र संकुचित है; लेकिन कई जगह इसके स्थल 'सेवा सदन' से ज्यादा करुण और मर्म-स्पर्शी हैं।

'निर्मला' में कई तरह के दम्पति हैं। उदयभानु लाल और कल्याणी, भालचन्द्र और रंगीलीबाई, डाक्टर और सुधा, तोताराम और निर्मला।

कल्याणी और उदयभानु—निर्मला के माता-पिता—का झगड़ा उपन्यास के अगले संघर्षों की अग्रसूचना है। उदयभानु का कहना है—"ऐसे मर्द और होंगे, जो औरतों के इशारे पर नाचते हैं" और कल्याणी का कहना है—"तो ऐसी स्त्रियाँ भी और होंगी, जो मर्दों की जूतियाँ सहा करती हैं।" मर्द को घर का अभिमान; सोचता है—यह घर छोड़कर कहाँ जायगी? कल्याणी चलने को होती है तो वह ताना देता है—मैके का घमंड होगा। कल्याणी मैके जाने पर लानत भेजती है। तैश में घर छोड़कर चली तो जाती; लेकिन बच्चों का मोह उसे रोक लेता है। पति उसे सबक सिखाने के लिए नदी के किनारे कपड़े छोड़कर कुछ दिन बाहर जाने का विचार करते हैं लेकिन रात में एक गुंडा, जिसे उन्होंने सज़ा कराई थी, उनकी हत्या कर डालता है। कल्याणी समझती है कि उसी की जली-कटी बातों से उसके पति का अन्त हुआ।

इससे उल्टा जोड़ा भालचन्द्र और रंगीलीबाई का है। भालचन्द्र आबकारी के ऊँचे ओहदे पर थे। खूब रिश्वत लेते थे। काला भुजंग शरीर था; लेकिन पत्नी—"गोरे रंग [illegible] महिला थीं। रूप और यौवन उनसे विदा हो रहे थे; पर किसी प्रेमी मित्र की भाँति मचल-मचलकर

तीस साल तक जिसके गले से लग रहे, उसे छोड़ते न बनता था।" पतिदेव हिन्दी के अक्षर बिलकुल न पहचानते थे; लेकिन रंगीलीबाई खत पढ़ लेती थीं। इन्हीं के लड़के से निर्मला का ब्याह होने वाला था; लेकिन यह सुनकर कि उदयभानु नहीं रहे—यानी भारी दहेज अब न मिलेगा—भालचन्द्र ने शादी करने से इन्कार कर दिया। रंगीलीबाई कोमल हृदय की थीं; लेकिन पति पर कठोर शासन करती थीं। वह चाहती हैं कि शादी हो जाय लेकिन पति को हीले-हवाले करते देखकर डपटकर कहती हैं—"क्यों जी, तुम मुझसे भी उड़ते हो, दाई से पेट छिपाते हो? मैं तुम्हारी बातें मान जाती हूँ, तो तुम समझते हो, इसे चकमा दिया; पर मैं तुम्हारी एक-एक नस पहचानती हूँ।"

रंगीलीबाई के द्वारा प्रमचन्द न बहुत सी सताई हुई स्त्रियों का मानो बदला ले लिया हो, मानो यह दिखला रहे हों कि हमारे समाज में स्त्रियाँ पतियों को नचा भी सकती हैं। ब्याह तै हो जाता अगर लड़का ही दहेज पर न अड़ जाता। वह कालेज में पढ़ता है लेकिन सीधे अपनी माँ से कहता है—"कहीं ऐसी शादी कराइये कि खूब रुपये मिलें।" और रंगीलीबाई उससे परास्त होकर कहती है—"तुम बाप-पूत दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो!"

सुधा निर्मला की घनिष्ठ मित्र है। अपने पति से बड़ा प्रेम करती है, लेकिन पतिदेव के हृदय में निर्मला के लिए प्रेम का दीपक जला करता है। जब सुधा को पता लगा तो उसने उन्हें खूब आड़े हाथों लिया। पति हयादार थे, इसलिए जल्दी ही मर गए। फिर भी सुधा को अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं हुआ। वह कहती है—"ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती।"

कल्याणी और सुधा-जसी नारियाँ हिन्दी-उपन्यासों और नाटकों की उन तमाम महिलाओं से भिन्न हैं जो व्यभिचारी पति के चरणों को आँसुओं से तर कर देती हैं और उसके अन्याय का प्रतिकार करने की बात भी नहीं सोचतीं। वे विशेष रूप से शरत् बाबू की देवियों से भिन्न हैं, जो अधिकतर

अपने दुःख में घुट-घुटकर मरना पसन्द करती हैं लेकिन समाज का खुला विरोध नहीं करतीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में नये ढंग के नारी पात्रों को रच रहे थे जो अन्याय और दुःख सहती हैं लेकिन उनका विरोध भी करती हैं। यदि नारी घुट-घुटकर मरा करे और सामाजिक रुकावटों का विरोध न करे तो कुछ लोग इसे बहुत गंभीर मनोविज्ञान समझते हैं। वास्तव में उससे उनके सामन्ती संस्कारों को संतोष होता है जिनके वश में रहकर वे नारी को दासी ही बनाकर रखना चाहते हैं।

मुख्य कहानी निर्मला की है। उसके पिता की मृत्यु के बाद उसके ब्याह में बहुत सी अड़चनें पड़ती हैं। दहेज में लोग लंबी रक़में माँगते हैं। विधवा कल्याणी यह सब कहाँ से लाये? आखिर जैसे गजाधर ने सुमन का उद्धार किया था, वैसे ही तोताराम ने निर्मला का उद्धार किया। सुमन का पति उससे लड़ता था, निर्मला का पति उसे खुश रखने की हज़ार कोशिशें करता है। लेकिन इससे निर्मला का जीवन सुखी नहीं होता, बल्कि सुमन से हज़ार गुना दुखी हो जाता है।

तोताराम की उम्र चालीस के क़रीब थी लेकिन बाल पक गए थे और तौंद निकल आई थी। मन्दाग्नि और बवासीर से भी परेशान थे। घर में तीन लड़के थे और एक विधवा बहन। नई बीवी को खुश रखने के लिए वह उपहार भेंट किया करते। कंजूस थे; लेकिन उसे खुश रखने के लिए धन की परवाह न करते। लड़कों को न देते; लेकिन बीवी को मेवे और मिठाइयाँ खिलाते। वकालत से फ़ुरसत पाकर उसे ग्रामोफ़ोन सुनाते थे।

तोताराम जितना ही उसे रिझाने की कोशिश करते थे, उतना ही निर्मला का मन उनसे भागा-भागा फिरता था। उसकी परिस्थिति का भयावानपन प्रेमचन्द ने तीखे शब्दों में यों व्यक्त किया है—

"लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने में संकोच होता था। इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी; अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति

था।....वही बातें, जिन्हें किसी युवक के मुख से सुनकर उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जाता, वकील साहब के मुँह से निकलकर उसके हृदय पर शर के समान आघात करती थीं।....वह अपना रूप और यौवन उन्हें न दिखाना चाहती थी; क्योंकि वहाँ देखने वाली आँखें न थीं।"

इस पति-प्रेम से उसका क्रोध और अवज्ञा अच्छे थे। सुमन का पति उस पर सन्देह करता था, मुँह पर कह देता था, लड़ लेता था, सुमन को लड़ने का मौक़ा दे देता था। निर्मला का पति उस पर सन्देह करता है—गजाधर की तरह पर-पुरुष से प्रेम का नहीं वरन् अपने बड़े लड़के मन्साराम से भावी संबंध की आशंका से वह निर्मला को अपने प्रेम का बन्दी बना लेना चाहता है। वह वकील है, अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा है, इसलिए अपना सन्देह छिपाकर रखता है और ऊपर से प्रेम का अभिनय करते हुए वह निर्मला को जीवित नरक में ठेल देता है। उसे विरोध करने का, लड़ने-झगड़ने का मौक़ा ही नहीं देता। अतृप्त नारी आइने में अपना शृंगार देखकर मन-ही-मन भस्म हुआ करती है—"निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौंदर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था।" जिस विवाह-प्रथा का आधार रुपये-पैसे का लेन-देन था, निर्मला उसी की वेदी पर उस पशु की तरह छटपटाया करती थी जिसका सिर पूरी तरह धड़ से जुदा न हुआ हो।

इस दुःखभरी कहानी में तोताराम की फिर जवान बनने की कोशिशें हास्यरस पैदा करके पाठक के मन को हल्का करती हैं। मित्र ने सलाह दी—"यह ढीला-ढाला कोट फेंको, तन्जेब की चुस्त अचकन हो, चुन्नटदार पाजामा, गले में सोने की जंजीर पड़ी हुई, सिर पर जयपुरी साफ़ा बँधा हुआ, आँखों में सुर्मा और बालों में हिना का तेल पड़ा हुआ। तौंद का पचकना भी ज़रूरी है। दोहरा कमरबंध बाँधो। ज़रा तकलीफ़ तो होगी, पर अचकन सज उठेगी। खिज़ाब मैं लगा दूंगा। सौ-पचास ग़ज़लें याद कर लो, और मौक़े-मौक़े से शेर पढ़ो।"

प्रेमचन्द ग़ज़लों की परम्परा को कितनी प्रगतिशील समझते थे, यह इसी से ज़ाहिर है कि उन्होंने सुर्मा और दोहरे कमरबंद के साथ गले में सदा-बहार सदा-सोहाग ग़ज़लों की माला पहनने की सलाह दिलवाई है। मानो ग़ज़लों के बिना सारे बनावटी काम अधूरे ही रह जाते।

तोताराम ने इन सब बातों पर अमल किया और वे सींग कटाकर बछड़ों में शामिल हो गए। बाँके का स्वाँग करते हुए उन्होंने शेक्सपियर के प्रसिद्ध हास्य-पात्र फालस्टाफ की बहुत सी बातें उतार लीं। एक छड़ी से तीन तलवार लिये हुए हमलावरों को उन्होंने मार भगाया। निर्मला ने फालस्टाफ के दोस्तों की तरह सवाल किया—"इस छड़ी पर तो तलवारों के बहुत से निशान बने हुए होंगे।" तोताराम ने वारों को खाली जाने दिया था इसलिए छड़ी साफ़ बच गई थी। तभी उनकी बहन के कमरे में एक साँप निकल आया। तोताराम के हाथों के तोते उड़ गए और उनकी बहन ने कह ही तो दिया—"है है ! मर्द होकर डरते हो?" आखिर साँप को उनके बड़े लड़के ने मारा; लेकिन तोताराम बोले—"मैं तो आ ही रहा था, तुमने क्यों जल्दी की ?" फिर भी मुर्दा साँप से डर लगता था, इसलिए यह भी कहा—"दे दो कोई फेंक आये।"

निर्मला तोताराम के इस अभिनय से इतना दुखी रहने लगी कि उसने भाग्य से समझौता करने का फ़ैसला कर लिया। लेकिन इससे तोताराम का मन शान्त न हुआ। जब तक निर्मला खिंची-खिंची रहती थी, तब तक वह उसे मनाने-रिझाने में लगे रहते थे। एक बार जब उसने आत्म-समर्पण कर दिया, तब वह उसके स्वामी और शासक बन बैठे। यह अकाल-वृद्ध पति अपने लड़के से ही ईर्ष्या करने लगता है और उसे स्कूल में ही रखकर निर्मला और मंसाराम दोनों को काला पानी दे देता है। ऊपर से वह मंसाराम को यह जताता है कि इसका मूल कारण निर्मला है !

तोताराम का सारा घिनौना चरित्र निर्मला से छिपा नहीं रहता। पहले वह उनकी देह से ही घृणा करती थी, अब उसे उनके चरित्र से भी घृणा हो जाती है। प्रेमचन्द ने उसकी असह्य पीड़ा—वास्तविक पीड़ा,

पीड़ा का स्वप्न नहीं—का वर्णन यों किया है—

"जिस देह का स्पर्श उसे सर्प के शीतल स्पर्श के समान लगता था, उससे आलिंगित होकर उसे जितनी घृणा, जितनी मर्म वेदना होती थी, उसे कौन जान सकता है ?"

सुमन उससे कितनी सौभाग्यशाली थी, जिसे इस तरह के पति-प्रेम से वंचित ही रहने का सुख मिला था !

स्कूल में मंसाराम बीमार पड़ जाता है। निर्मला सहनशीलता की सीमा पर पहुँच चुकी है। वह अब पति को बतला देती है कि वह सब समझती है और उसकी नज़रों में पति महाशय क्या हैं। वह कहती है—"यह सब आप करा रहे हैं !" लेकिन पति निर्दोष होने का अभिनय करता है। निर्मला फिर कहती है—"खूब सोचिये, इसीलिए आपने उन्हें वहाँ भेजा था? आपके मन में कोई और बात न थी ?" लेकिन तोताराम बेशर्म आदमी हैं। इशारों से समझने से इन्कार करते हैं। निर्मला में अभी इतनी हिम्मत नहीं आई कि वह खुलकर उनका तीव्र विरोध करे। मंसाराम को घर लाने की सलाह देकर वह इतना ही कहती है—"मेरे कारण न लाना चाहते हों, तो मुझे मेरे घर भेज दीजिये। मैं वहाँ आराम से रहूँगी।" तोताराम से इसका कोई जवाब देते नहीं बन पड़ता।

मन्साराम को टी. बी. हो जाती है। तोताराम को मरते हुए लड़के से भी भय लगता है कि कहीं वह उनकी धर्मपत्नी का सतीत्व नष्ट न कर दे। निर्मला अब पति के सन्देह और समाज की कानाफूसी की परवाह न करके सीधे अस्पताल पहुँच जाती है। तोताराम का हृदय मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए लड़के को देखकर भी नहीं पिघलता। अब भी पत्नी को डाँटकर कहते हैं, मानो घर में जिस कुत्ते को बाँध आए हों, वह रस्सी तुड़ाकर वहाँ भाग आया हो,—"तुम यहाँ क्या करने आईं?" लेकिन निर्मला अब वह निर्मला नहीं है। एक क्षण वह इस प्रश्न से स्तंभित रह जाती है। लेकिन जब तोताराम ने अपना प्रश्न दोहराया तो,—

"निर्मला ने निःशंक भाव से उत्तर दिया—आप यहाँ क्या करने

आये हैं ?"

इस पर तोताराम का स्वामी भाव जाग उठा। नथने फड़कने लगे। शायद अस्पताल था, वर्ना हाथ चला बैठते। फिर भी निर्मला का हाथ पकड़ लिया और बोले—"तुम्हारे यहाँ आने की कोई ज़रूरत नहीं। जब मैं बुलाऊँ तब आना, समझ गईं ?"

पुरुष ने अपने अधिकार का उपयोग किया। लेकिन अब विजयी होना उसके हाथ में नहीं था। विमाता और उसका बेटा दोनों मिलकर उस नीच तोताराम का सामना करते हैं। मन्साराम ने सारी ताक़त बटोरी और जिस निर्मला ने उसके लिए इतना सहा था, वह उसके पैरों पर गिरकर कहता है:—"अम्मा जी, इस अभागे के लिए आपको व्यर्थ इतना कष्ट हुआ। मैं आपका स्नेह कभी न भूलूँगा। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरा पुनर्जन्म आपके गर्भ से हो, जिससे मैं आपके ऋण से उऋण हो सकूँ। ईश्वर जानता ह, मैंने आपको विमाता नहीं समझा। मैं आपको अपनी माता समझता रहा। आपकी उम्र मुझसे ज़्यादा न हो; लेकिन आप मेरी माता के स्थान पर थीं; और मैंने आपको सदैव इसी दृष्टि से देखा····अब नहीं बोला जाता अम्मा जी, क्षमा कीजिये! यह अन्तिम भेंट है!"

मन्साराम के एक-एक शब्द में तोताराम की पराजय थी। उसके शब्दों ने समझा दिया कि उनकी नीचता किसी से छिपी नहीं है। मन्साराम उनके सन्देहों की अस्लियत प्रकट करके अपनी विमाता के लिए निर्भय होकर अपना स्नेह व्यक्त कर देता है।

"निर्मला ने निर्भय नेत्रों से देखते हुए कहा—डाक्टरों ने क्या सलाह दी ?"

उसका भय दूर हो गया है; लेकिन बहुत देर में दूर हुआ। वह मन्साराम की जान बचा सकती थी और बचा लेती अगर इतनी हिम्मत उसने ज़रा पहले दिखाई होती। लेकिन निर्मला सुमन नहीं है। वह कभी न कह पाती—"जहाँ मज़ूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूँगी।" अपने चरित्र की इस निर्बलता की वजह से वह मन्साराम को खो देती है और उसके बाद भी कष्ट उठाती

रहती है।

तोताराम की गृहस्थी चौपट हो जाती है। लड़के शरारती हो जाते हैं। निर्मला, जिसका स्वभाव पहले इतना मधुर था, अब कर्कशा बन जाती है। फिर सुधा के पति का प्रेम-निवेदन निर्मला की फटकार, डाक्टर की मृत्यु, तोताराम के एक लड़के का घर से लापता होना, निर्मला से झगड़ा, लड़के का पता लगाने के लिए तोताराम का बाहर निकलना और निर्मला का घुल-घुलकर मरना और अन्त में—

"उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी, दिन-भर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पंजों और वायु के प्रचण्ड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।"

जिस समय लोग निर्मला की लाश बाहर निकालते हैं और इस पसो-पेश में होते हैं कि इनका दाह कौन करेगा उसी समय "एक बूढ़ा पथिक एक बुकचा लटकाये आकर खड़ा हो गया। यही मुन्शी तोताराम थे।"

यहीं उपन्यास समाप्त हो जाता है।

शायद यह प्रेमचन्द का पहला दुःखान्त उपन्यास है।

दुःखपूर्ण अन्त केवल निर्मला के जीवन का नहीं होता। एक ट्रैजिक पात्र और है, मन्साराम। यह एक नई तरह का पात्र है, जिसे प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास में जगह दी है। हिन्दी कथा-साहित्य में वयस्क स्त्री-पुरुषों की समस्याओं पर काफ़ी लिखा गया है, लेकिन स्कूली उम्र के लड़कों की तरफ कलाकारों का ध्यान कम गया है।

मन्साराम एक मातृहीन बालक है। इस जर्जर सामन्ती समाज में स्त्रियों की तरह लड़कों को भी स्वाधीनता नहीं है—यह तथ्य सबसे पहले प्रेमचन्द ने पेश किया। मन्साराम अपनी विमाता का गुलाम नहीं है। वे गुलाम का-सा सलूक पाता है अपने पिता से। तोताराम के लड़के चोरी बदमाशी सीखने की आजादी हासिल कर लेते हैं, लेकिन जहाँ मन्साराम के सहज विकास और उसकी स्वाभाविक इच्छाओं से पिता का स्वार्थ

टकराता है, वहाँ लड़के को दबना पड़ता है, पिता उसे उसी तरह अपनी सम्पत्ति समझता है जैसे स्त्री को।

मन्साराम एक कच्ची उम्र का लड़का है। घर-गृहस्थी की बातें कम समझता है, ख़ासकर यह तो वह सपने में भी न सोचता था कि उसके पिता निर्मला और उसके सम्बन्ध में किसी तरह के अनौचित्य की आशंका करते होंगे। वह मेहनती और सच्चरित्र लड़का था। जिन्दगी में बहुत-कुछ कर सकता था। लेकिन इस सड़ी-गली समाज-व्यवस्था में, जहाँ नौजवानों के कोई अधिकार नहीं हैं, वह पिस गया।

मन्साराम की ट्रैजेडी और भी करुण इसलिए हो उठती है कि वह मातृहीन बालक है। उसके दुःख को कम करने के बदले परिवार की व्यवस्था उसके अन्तस् के दुःख को हर वक्त कुरेदा करती है।

"ज्यों-ज्यों मातृस्नेह की पूर्व-स्मृतियाँ जाग्रत होती थीं, उसके आँसू उमड़ते आते थे। वह कई बार अम्मा-अम्मा पुकार उठा, मानो वह खड़ी सुन रही है। मातृहीनता के दुःख का आज उसे पहली बार अनुभव हुआ वह आत्माभिमानी था, साहसी था; पर अब तक सुख की गोद में लालन-पालन होने के कारण वह इस समय अपने को निराधार समझ रहा था।"

आत्माभिमान और साहस के गुण उसी परिवार में पूरी तरह विकसित हो सकते हैं जिसका आधार पैसा न हो। निर्मला का विवाह योग्य वर से नहीं हुआ; क्योंकि उसके परिवार के पास पैसा न था। वह तोताराम की दासी है, क्योंकि उसके पास अपना एक पैसा नहीं। मन्साराम के लिए परिवार में उसका अपना कोई अधिकार नहीं; क्योंकि धन के स्वामी पिता हैं और वह उनके अन्याय के विरुद्ध कहीं फरियाद नहीं कर सकता।

'निर्मला' प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के विकास में एक मार्ग-चिह्न है। यह पहला उपन्यास है जिसमें उन्होंने किसी सेवा सदन या प्रेमाश्रम का निर्माण करके पाठक को झूठी सान्त्वना नहीं दी। कहानी अपने निर्मम तर्क-संगत परिणाम की तरफ अविराम गति से बढ़ती जाती है। उन्होंने कहानी लिखने में यथार्थवाद को पूरी तरह निबाहा है। यह क्रान्तिकारी यथार्थ-

बाद नहीं है; क्योंकि निर्मला और मन्साराम में काफ़ी निष्क्रियता है; सुमन की तरह वे अन्याय का प्रतिकार करने नहीं बढ़ते। फिर भी यथार्थवाद को लाने और पुष्ट करने में 'निर्मला' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह उपन्यास असहयोग-आन्दोलन की असफलता के बाद लिखा गया था और जाहिर करता है कि किस तरह हिन्दी-लेखक कल्पित समाधानों से संतुष्ट न होकर यथार्थ जीवन का सामना करने के लिए आगे बढ़ रहे थे।

'ग़बन' में जालपा और रमानाथ ऐसे दम्पति हैं, जो सुखी हैं। इनका ब्याह दहेज की वजह से नहीं रुका और न पति के सन्देह से स्त्री को यम-यातना भोगनी पड़ती है। लेकिन जालपा को गहनों का शौक़ है। बचपन से उसने चन्द्रहार का सपना देखा है। ब्याह में गहने मिलते हैं लेकिन वे उसके अपने नहीं हो पाते। उसका मन रखने के लिए रमानाथ और उसके पिता ने उसे ठगा था और एक दिन रमानाथ उन्हें चुरा लेता है और वे सर्राफ को वापस कर दिए जाते हैं।

रमानाथ चुंगी की नौकरी करता है। जालपा की मित्र रतन उसे कंगन खरीदने के लिए रुपये देती है। वे रुपये भी सर्राफ़ के यहाँ पहुँच जाते हैं। रतन बराबर तक़ाजे करती है। एक दिन जालपा चुंगी के रुपये उठाकर रतन को दे देती है। ग़बन में पकड़े जाने के भय से और जालपा से सच्ची बात कहने की हिम्मत न होने से रमा भाग खड़ा होता है। बूढ़े खटीक देवीदीन के यहाँ आश्रय पाता है। सरकारी गवाह बनकर वह क्रान्तिकारियों को सजा कराता है लेकिन जालपा से फटकारे जाने पर—जो उसे ढूँढ़ती हुई कलकत्ता पहुँच गई है—वह जज के सामने सच्ची बात कह देता है। मुक़दमा फिर होता है और क्रान्तिकारी रिहा कर दिए जाते हैं। अन्त में रमा, जालपा, देवीदीन वग़ैरा इलाहाबाद में आकर खेती-बाड़ी करने लगते हैं।

प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में जालपा एक नये ढंग की स्त्री है। वह परिस्थितियों से टक्कर लेती है लेकिन कभी धैर्य नहीं खोती। भारी-से-भारी मुसीबत पड़ने पर वह विवेक से काम लेती है और कठिनाइयों का सामना करने के लिए नये-नये दाव-पेंच निकाल लेती है। वह निर्मला की तरह

घुल-घुलकर प्राण देने वाली नहीं है और न सुमन की तरह तैश में आकर जल्दी ही किसी अनजानी राह पर कदम उठाने वाली। उसका चरित्र कठिनाइयों का सामना करते हुए बराबर निखरता रहता है, क्योंकि वह अपनी खामियों को पहचान सकती है। वह एक ईमानदार और साहसी स्त्री है।

वह गाँव की लड़की है। सावन की घटाओं के नीचे बाग में झूला झूल चुकी है। कजली और बारहमासा के गीतों ने उसके मनोभावों को सरस और सदय बनाया है। लेकिन वह किसी खेत-मजूर की लड़की न थी। उसके पिता उसके भविष्य के लिए यह न सोचते थे कि वह मर्द के साथ खेत में काम करेगी। उसके भविष्य के नक़्शे में पति और गहने ही बनाये गए थे।

स्त्रियों को अक्सर गहनों से प्रेम होता है। इसके लिए उन्हें कभी-कभी कोसा भी जाता है और अनेक पुरुष अपने ऊपर गर्व भी करते है कि वह गहनों-जैसी तुच्छ चीजों से प्रेम करने वाली स्त्रियों से ऊँचे हैं। लेकिन गहनों से स्त्रियों के इस प्रेम का कारण क्या है?

प्रेमचन्द लिखते हैं—"जालपा को गहनों से जितना प्रेम था, उतना कदाचित् संसार की और किसी वस्तु से न था; और उसमें आश्चर्य की कौन सी बात थी? जब वह तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उस वक्त उसके लिए सोने के चूड़े बनवाये गए थे। दादी जब उसे गोद में खिलाने लगती, तो गहनों ही की चर्चा करती। तेरा दूल्हा तेरे लिए बड़े सुन्दर गहने लायगा। ठुमुक-ठुमुककर चलेगी।"

जब वह कुछ और बड़ी हुई, तब उसने गुड़ियों को गहने पहनाये थे। और बढ़ने पर अपने गाँव-घर की स्त्रियों से वह गहनों की चर्चा सुना करती थी। इस तरह उसका जीवन एक ऐसी दुनिया में बीता था जिसे प्रेमचन्द ने "आभूषण-मंडित संसार" कहा है।

स्त्री के लिए काम-काज के दरवाज़े बन्द होंगे तो वह ज़रूर गहनों के लोक में घूमती रहेगी।

जालपा और रमा एक दूसरे को प्यार करते थे। लेकिन यह प्यार

का भ्रम ही था। जालपा गहनों को प्यार करती थी और रमा उसके रूप और जवानी को। गहनों के चले जाने के बाद जालपा के व्यवहार में अन्तर आ जाता है। वह रमा से खिंची-खिंची रहने लगती है।

रमा जालपा से अपने मन की बात नहीं कह पाता। कई बार संकल्प करता है कि वह कहे; लेकिन हर बार संकल्प टूट जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि परस्पर विश्वास का आधार अभी बन नहीं पाया। रमा जालपा का रूप-यौवन चाहता है लेकिन बदले में क्या दे? वह गहने ही दे सकता है और गहनों से ही वह प्रसन्न हो सकती है। लेन-देन का आधार यहाँ भी छिपा हुआ है। रिश्वत, झूठ, मर्यादा बनाये रखने के लिए दाँव-घात—ये सब रमा के चरित्र की विशेषताएँ हैं जो सम्पत्ति की पूजा करने वाले समाज में पैदा हुई हैं।

रमा और जालपा के चरित्र में एक मौलिक अन्तर है। जालपा को सच कहने और सोचने की शिक्षा मिली है। वह नारी है, इसलिए पीड़ितों की व्यथा को पुरुष से ज्यादा अच्छी तरह समझती है। जब रमा नौकरी के अलावा ऊपरी आमदनी की बात करता है तो जालपा टोकती है—"तो तुम घूस लोगे, गरीबों का गला काटोगे?"

रमा की तरह वह आत्म सम्मान के भाव से रीती नहीं है। जब उसकी माँ उसे अपना चन्द्रहार भेजती है, तो यह सोचकर कि उन्होंने बड़े संकट में उसे भेजा होगा, वह उसे वापस कर देती है। वह कहती है—"मैं किसी का दान न लूँगी, चाहे वह माता ही क्यों न हो।" जालपा यहाँ पर जता देती है कि उसके गहनों के प्रेम की सीमा है और वह किसी भी क़ीमत पर गहने लेने को तैयार न हो जायगी। उसका यही आत्म सम्मान उसका सबसे बड़ा रक्षक साबित होता है, जब कि रमानाथ में इसी का अभाव उसके दुःख और कठिनाइयों का सबसे बड़ा कारण बन जाता है।

गहने न पाकर जालपा ने क्षोभ में अपनी सहेलियों वग़ैरा को पत्र लिखे और रमा को डालने को दिये, फिर उसे पश्चात्ताप हुआ। रमा ने

उन्हें पढ़ लिया था और बिना पोस्ट किये वापस ले आया था। जालपा यह न जानते हुए पहले ही अपने मन की कहानी कह देती है और रमा की निन्दा करने के लिए क्षमा भी माँग लेती है। रमा ने कभी भी इतने विश्वास से अपने मन की बात जालपा से नहीं कही।

जालपा को जब गहने मिल जाते हैं तो वह पति की सेवा करने लगती है यानी उसके नहाने का सामान रख देती है, दफ़्तर जाने के वक़्त कपड़े ला देती है; वग़ैरह। अब वह प्रसन्न रहने लगा और अपनी सहेलियों में गाने-बजाने से लेकर सिनेमा तक का आनन्द लेने लगी। लेकिन रमा के साथ अपने सम्बन्ध की असलियत को भी वह ज़्यादा अच्छी तरह समझने लगी। उससे यह छिपा नहीं रहा कि रमा उससे मन की बात नहीं करता। क्यों नहीं करता, इस पर विचार करते हुए वह कठोर सत्य का पता लगा लेती है।

रमानाथ से वह कहती है—"मुझसे प्रेम होता तो मुझ पर विश्वास भी होता। बिना विश्वास के प्रेम हो भी कैसे सकता है? जिससे तुम अपनी बुरी-से-बुरी बात न कह सको, उससे तुम प्रेम नहीं कर सकते। बोलो, है या नहीं? आँखें क्यों छिपाते हो?"

सत्य, कठोर फिर भी सत्य। वेश्या जोहरा की तरफ आकृष्ट होकर मानो रमानाथ ने आगे चलकर जालपा की बात को अपने जीवन ही में सच कर दिखाया।

ग़बन के बाद जब रमा भागता है तब जालपा का साहस और धीरज अपने निखरे हुए रूप में प्रकट होते हैं। वह अपना प्रिय हार बेच डालने का निश्चय कर लेती है। उसे अपनी सहेलियों से रुपये मिल सकते थे। ये सहेलियाँ रमा के दोस्तों-जैसी नहीं थीं जो वक्त पड़ने पर दग़ा दे गए। प्रेमचन्द स्त्रियों और पुरुषों की अपनी-अपनी मैत्री का भेद बतलाते हुए लिखते हैं—"स्त्रियों में बड़ा स्नेह होता है। पुरुषों की भाँति उनकी मित्रता केवल पान-पत्ते तक ही समाप्त नहीं हो जाती।" इस स्नेह का कारण यह है कि वे सभी दोहरी दासता के बन्धनों से जकड़ी

हुई हैं और पुरुषों से ज्यादा एक दूसरे के दुख-दर्द को समझती हैं।

रमानाथ के चले जाने पर जालपा खुद अपने अन्तस्तल को टटोलती है और इस सत्य को स्वीकार करती है कि पति को खोने के लिए वह भी ज़िम्मेदार है। फिर भी वह धीरज से काम लेती है। वह अपनी सास पर ज़ाहिर नहीं होने देना चाहती कि कोई गम्भीर घटना हो गई है। वह सारी रात अकेले जागते बिता देती है।

सराफ़ों के तक़ाज़े आने पर वह अपने गहने बेच डालती है और उनके रुपये चुका देती है। उसे अपने बनाव-सिंगार की पिछली चीजों से घृणा हो जाती है। अपने मखमली स्लीपर, रेशमी मौजे, बेलें, फ़ीते वग़ैरह सब एक झोले में भरकर गंगा में प्रवाहित कर आती है।

अपनी सखी रतन से वह मन का भेद कहती है। अगर वह रमा की जगह होती तो इस तरह न भागती। कठिनाइयों से भाग खड़े होना जालपा के स्वभाव में नहीं है।

शतरंज का नक्शा बनाकर पति का पता लगाने में वह अपनी चतुरता और सहज बुद्धि का परिचय देती है।

जालपा एक देश-भक्त नारी है। देश की सेवा करने वालों के लिए उसके दिल में सहज सम्मान है और देश के साथ विश्वास-घात करने वालों के लिए उसके पास केवल रोष और घृणा है। रमा ने मुखबिरी करके जब क्रान्तिकारियों को सज़ा करा दी तो जालपा के लिए वह उसका सबसे बड़ा शत्रु हो गया।

"वह उससे कहना चाहती थी—तुम्हारा धन और वैभव तुम्हें मुबारिक हो, जालपा उसे पैरों से ठुकराती है। तुम्हारे ख़ून से रँगे हुए हाथों के स्पर्श से मेरी देह में छाले पड़ जायँगे। जिसने धन और पद के लिए अपनी आत्मा बेच दी, उसे मैं मनुष्य नहीं समझती। तुम मनुष्य नहीं हो, तुम पशु भी नहीं, तुम कायर हो! कायर!"

कहते हैं कि पुराने जमाने में भारत की वीर नारियाँ समर-भूमि जाते हुए पति को स्वयं कवच पहनाती थीं और वह पीठ दिखाकर आये तो उसके

लिए घर का द्वार बन्द कर लेती थीं। वह वीरता वर्तमान भारत की नारियों में मिट नहीं गई बल्कि और निखर रही है। जालपा उन्हीं की प्रतिनिधि-पात्र है। वह स्नेह में जितनी कोमल है, घृणा में उतनी ही कठोर।

पति का ध्यान छोड़कर वह उस क्रान्तिकारी की बात सोचने लगती है जिसे फाँसी की सज़ा दी गई है। उसकी बूढ़ी माँ और स्त्री के दुःख का विचार करके रमा के लिए उसका मन और भी घृणा से भर जाता है।

और जब सरकारी गवाह रमानाथ रेशमी साफ़ा बाँधे, सुनहरी ऐनक लगाये देवीदीन के घर आता है और बूढ़ी घटकिन की फटकार सुनकर अपनी सफ़ाई पेश करने लगता है कि पुलिस की सख्तियों और धमकियों से उसे ऐसा करना पड़ा, तब जालपा—

"बाज़ की तरह कूदकर धम्-धम् करती हुई नीचे आई और जहर में बुझे हुए नेत्र-बाणों से उस पर प्रहार करती हुई बोली—अगर तुम सख़्तियों और धमकियों से इतना दब सकते हो, तो तुम कायर हो। तुम्हें अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं! क्या सख्तियाँ की थीं? जरा सुनूँ? लोगों ने हँसते-हँसते सिर कटा लिए हैं, अपने बेटों को मरते देखा है, कोल्हू में पेले जाना मंजूर किया है, पर सचाई से जौ-भर भी न हटे। तुम भी तो आदमी हो, तुम क्यों धमकी में आ गए? क्यों नहीं छाती खोलकर खड़े हो गए कि इसे गोली का निशाना बना लो; पर मैं झूठ न बोलूँगा। क्यों नहीं सिर झुका दिया? देह के भीतर इसीलिए आत्मा रखी गई है कि वह उसकी रक्षा करे। इसलिए नहीं कि उसका सर्वनाश कर दे।"

जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व है। वह भविष्य के तूफ़ानों की अग्रसूचना है। उसने वर्तमान की राह पर मज़बूती से पाँव रखा है और भविष्य की तरफ़ वह निःशंक दृष्टि से देखती है। वह एक नई आग है, जो झूठी संस्कृति के कागजी फूलों को भस्म कर देती है। वह सदियों की लांछना और अपमान को पहचानने वाली नई शूरता है जिसके आगे कोई और ठहर नहीं सकती। वह हिंदुस्तान के नये आने वाले इतिहास की भूमिका

है, वह इतिहास, जिसमें लाखों जालपा एक साथ आगे बढ़ेंगी और ऐसे नारीत्व का चित्र आँकेंगी जिनके सामने अतीत के सभी चित्र फीके लगेंगे।

प्रेमचन्द के शब्द ही सरकारी गवाह और देश-भक्त नारी के मिलन की पेचीदा परिस्थिति को इतने सीधे ढंग से पाठक हृदय में उतार सकते थे। कहीं अलंकारों का बोझ नहीं; कहीं भारी-भरकम शब्दावली नहीं। परिस्थिति का सारा तनाव, जालपा का आहत आत्म-सम्मान, रमा की आत्महीनता, अंग्रेज़ों के पुलिस-राज की कुरूपता, हिंदुस्तान के शहीदों की गौरवशाली परम्परा—थोड़े से ही शब्दों में यह सब व्यंजित करके प्रेमचन्द ने जालपा-रमा की भेंट के इस दृश्य को हिंदी-कथा-साहित्य में चिरस्मरणीय बना दिया है।

उसका चरित्र जितना ही महान् है, रमा का उतना ही हल्का और घृणित। उसने कजली और बारह मासा नहीं गाया, न झूले पर बढ़-बढ़-कर पेंगें मारी हैं। रतन के साथ झूला झूलते हुए उसके प्राण सूख जाते हैं। उसने संस्कृति के नाम पर शहर में सैर-सपाटा और सिनेमा देखना ही सीखा है। वह शहरी मध्यम वर्ग की कमज़ोरियों का प्रतीक है। सचाई और आत्म सम्मान से ज्यादा महत्त्व उसकी नज़रों में झूठी मान-मर्यादा का है। उसके पतन का इतिहास इस झूठी मर्यादा वाले समाज के पतन का इतिहास है।

फिर भी वह दोषों-ही-दोषों का भंडार नहीं है। वह सचाई की ज़िंदगी बसर कर सकता था, इसकी चाह उसमें है; लेकिन इसके लिए उसमें मनोबल का अभाव है, वह झूठ बोलता है, बहाने बनाता है, फिर अपनी नीचता पर रोता है। कहीं इन्सानियत के अंकुर उसके हृदय में दबे पड़े हैं। जालपा की फटकार सुनकर वह अपना बयान लेने का निश्चय कर लेता है। उसके चरित्र में काफ़ी परिवर्तन होता है। प्रेमचन्द की कला और मनोविज्ञान की बारीकी इस बात में दिखाई देती है कि वह उसे न तो पहले राक्षस बना-

खड़ा करते हैं और न बाद में उसे देवता बना देते हैं। जब नदी में एक

हुए.? अपनी बच्ची को लिये हुए डूबती दिखाई देती है, तब रमा एक बार

फिर अपनी कायरता का परिचय देती है। ज़ोहरा कूदने को तैयार होती है तब वह लजाकर कहता है—"जाने को मैं तैयार हूँ; लेकिन वहाँ तक पहुँच भी सकूँगा, इसमें संदेह है। कितना तोड़ है !"

और जब ज़ोहरा बाढ़ के पानी में आगे बढ़ जाती है, तब वह पछताकर कहता है,—"मुझे अपनी कायरता पर लज्जा आ रही है।" इस पर जालपा व्यंग्य करती है—"इसमें लज्जा की कौन बात है ? मेरी लाश के लिए जान को जोखिम में डालने से फ़ायदा ? जीती होती तो मैं खुद तुमसे कहती, जाकर निकाल लाओ।"

आखिर रमा पानी में कूदता है लेकिन तब जब ज़ोहरा डूबने लगती है और आखिर डूब ही जाती है।

मानो यह दिखाने के लिए कि जिस परिवार में पति-पत्नी दोनों मेहनत करते हैं, वह कितना सुखी रह सकता है, प्रेमचन्द ने देवीदीन खटीक और उसकी बूढ़ी स्त्री को तस्वीर खींची है। ये दोनों बूढ़े हैं लेकिन इनमें परस्पर इतना प्रेम है जितना रमा और जालपा ने कभी सपने में सोचा भी न था। उनका यह प्रेम एक साथ मेहनत-मजूरी करने में पैदा हुआ है, ज़िन्दगी में एक साथ सुख-दुख सहने में पैदा हुआ है, और ऐसा प्रेम ही वास्तविक और टिकाऊ होता है।

उनके दो जवान बेटे अंग्रेज़ी राज से लड़ते हुए शहीद हुए हैं; लेकिन देवीदीन इस पर रोता नहीं है, गर्व करता है। इतना ही नहीं, वह यह भी समझने लगा है कि हिंदुस्तान को आज़ाद करेंगे तो उस-जैसे मेहनत-मजूरी करने वालों के बेटे ही। वह सफ़ेदपोश नेताओं की अस्लियत समझ गया है। वह बड़े-बड़े सेठों के धर्म की अस्लियत भी जानता है जो प्रयाग में गंगा-स्नान करके मज़दूरों को हंटरों से पिटवाते हैं। उसकी पत्नी उसी की तरह देश-भक्त है। रमा की लाई हुई सोने की चूड़ियों को वह उठाकर फेंक देती है क्योंकि वे एक सरकारी गवाह की लाई हुई चूड़ियाँ हैं। और देवीदीन बहुत ही मज़ाक़-पसन्द आदमी है। वह दिल खोलकर हँसता है और ज़िन्दगी की असंगतियों को अपनी पैनी निगाह से देखकर वह हँसी की

'निर्मला' के बाद 'ग़बन' हिंदी-साहित्य के यथार्थवाद में एक और आगे बढ़ा हुआ क़दम है। वह जीवन की असलियत की छान-बीन और गहराई से करता है, भ्रम के पर्दे उठाता है, नये रास्ते ढूँढ़ने के लिए वह जनता को नई प्रेरणा देता है। एक साधारण लेखक के हाथों में जालपा की कहानी गहनों से प्रेम करने का बुरा नतीजा दिखाने वाली एक मामूली उपदेश-मूलक कहानी बन जाती। प्रेमचन्द ने उसे नारी-समस्या का व्यापक चित्र बनाने के साथ-साथ इस समस्या को हिंदी-साहित्य में पहली बार देश की स्वाधीनता की समस्या से भी जोड़ दिया है। जालपा को सच्चा सुख उनकी देख-भाल करने में मिलता है जिनके बेटों और पतियों को अंग्रेज़ी राज फाँसी देने की तजवीज़ करता है सामाजिक जीवन और कथा-साहित्य के लिए यह एक नई दिशा की तरफ़ संकेत था।

५

'कायाकल्प' और 'रंगभूमि'

'कायाकल्प' दो वर्गों की कहानी है—एक तरफ़ जागीरदार और रानियाँ हैं और दूसरी तरफ़ किसान-जनता है। 'कायाकल्प' किसानों का नहीं होता, बल्कि जगदीशपुर की रानी देवप्रिया का होता है। रानी देवप्रिया को हम विलास-प्रिया के रूप में देखते हैं। अपने पूर्व जन्म के पति को पाकर वह अपनी रियासत विशालसिंह को देकर चली जाती है। चक्रधर का लड़का शंखधर आगे चलकर देवप्रिया से मिलता है। वह भी पूर्वजन्म में देवप्रिया का पति था। ऐसा लगता है कि देवप्रिया को जितने नौजवान मिलते हैं, वह उन्हें अपने पूर्वजन्म का पति कहकर इस जन्म का पति भी बना लेती है। शंखधर की मृत्यु के बाद देवप्रिया भोग-विलास का जीवन त्याग देती है और जगदीशपुर में फिर राज करने लगती है। इस तरह उसका कायाकल्प हो जाता है।

कथा का यह भाग चमत्कारों से भरा हुआ है और प्रेमचन्द की कलम भी उसमें जान नहीं डाल सकी। 'कायाकल्प' की इस कमज़ोरी की तरफ सभी आलोचकों ने संकेत किया है। इस उपन्यास के ज़ोरदार हिस्से वे हैं जहाँ प्रेमचन्द ने हाड़-मांस के आदमियों के इसी जीवन पर दृष्टि केन्द्रित करके उनके चरित्र की अच्छाइयों-बुराइयों को चित्रित किया है। इससे पता चलता है कि प्रेमचन्द की कलम की ताक़त यथार्थ जीवन को आँकने से पैदा हुई थी। उनकी कला इसलिए प्रभावशाली थी कि वे अपनी आँखों से देखी हुई सचाई को चित्रित करते थे। जहाँ ग़लत आदर्शों या विचारों के प्रभाव से उन्होंने यह रास्ता छोड़ दिया, वहाँ उनकी कला प्रभावहीन हो गई और उनकी कलम का जादू उड़ गया।

रानी देवप्रिया के जाने के बाद जब विशालसिंह का राज-तिलक होता है, तब जागीरदारों और राजाओं की संस्कृति अपना असली रूप अच्छी तरह

प्रकट करती है, अंग्रेज़ हाकिमों की दावतें करना है, दूसरे राजाओं का आदर-सत्कार करना है। राजा विशालसिंह खुद तो कुछ करते नहीं है। पैसा कहाँ से आये। उनका दीवान सलाह देता है कि हल पीछे दस रुपया चन्दा लगा दिया जाय। राजा साहब को प्रजा का बड़ा ध्यान है। चाहते हैं कि प्रजा को कष्ट न हो। लेकिन उससे भी ज़्यादा उन्हें अंग्रेज़ हाकिमों का ध्यान है। इसलिए पैसा इकट्ठा करने की आज्ञा देते हुए हिदायत करते हैं—"इतना ख़याल रखिये कि किसी को कष्ट न होने पाये। आपको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि असामी लोग सहर्ष शरीक हों।"

ज़ोर-ज़बरदस्ती से रुपया इकट्ठा किया जाता है। प्रेमचन्द दिखलाते हैं कि इन रियासतदारों की हुकूमत आतंक पर ठहरी हुई है। गाली-गुप्ता, मार-पीट, कुड़की-बेदखली,—इन सभी साधनों से अंग्रेज़ों और उनके भक्तों की ख़ातिर के लिए रुपये बटोरे जाते हैं। जब चमार पोलो के खेल वाले घोड़ों को घास नहीं पहुँचाते, तब उन्हें हंटरों से पीटा जाता है। राजा, दीवान, पुलिस, सभी बन्दूकें लेकर आ पहुँचते हैं। चक्रधर चाहता है कि फ़िसाद न हो और शान्ति से समझौता करा दिया जाय; लेकिन बन्दूक के कुन्दे से उसे गिरा दिया जाता है। मज़दूर मिलकर बन्दूकधारियों को पीछे ठेल देते हैं। अपने दलालों को यों भागते देखकर अंग्रेज़ी राज अपने हिंसक रूप में प्रकट हो जाता है। अंग्रेज़ों के कैंप से मज़दूरों पर गोलियाँ चलनी शुरु होती हैं और बहुत से मारे जाते हैं, बहुत से घायल होते हैं। लेकिन संगठित मज़दूर अंग्रेज़ों की बन्दूकें छीनकर उन्हें भी भगा देते अगर चक्रधर ने उन्हें पीछे हटने के लिए न कहा होता। गाँव के ये खेत-मज़दूर जीवट के आदमी हैं। वे काले सफ़ेद किसी बन्दूकधारी से नहीं डरते। वे अंग्रेज़ों और उनके दलालों को निकाल बाहर करते, अगर उन्हें चक्रधर-जैसे लोगों की असलियत का पता लग जाता। इसका पता लगने में देर लगती है, लेकिन लग ज़रूर जाता है।

चक्रधर को सज़ा हो जाती है। वहाँ पर कैदियों और जेल-अधिकारियों में संघर्ष होने पर वह एक तरफ़ से कैदियों का पक्ष लेता है, दूसरी तरफ़

अधिकारियों पर भी आँच न आने पाय, इस बात का ध्यान रखता है।

जेल से छटने पर स्वयं राजा साहब चक्रधर का स्वागत करने पहुँचते हैं। उन्हें ऐसे नेताओं की जरूरत है जो जनता को अपने क़ाबू में रखें और राजा पर आँच न आने दें। चक्रधर के तमाम सिद्धांत—जो उसने जनता को मोहने के लिए गढ़े थे—रियासत में टूटते जाते हैं। "उन्हें स्वयं कभी-कभी कर्मचारियों की तंबीह करनी पड़ती थी, कई बार उन्हें विवश होकर नौकरों को मारना भी पड़ा था। सबसे कठिन समस्या यही थी कि यहाँ उनके पुराने सिद्धांत भंग होते चले जा रहे थे।" मुँह से सिद्धांत-चर्चा और अमल में उन्हें तोड़ना, इस तरह के नेताओं की यह विशेषता थी।

प्रेमचन्द ने एक घटना के जरिये चक्रधर के पतन का सुन्दर चित्र खींचा है। मोटर पर हवा खाते हुए रास्ते में एक साँड मिलता है, जो रास्ता रोककर खड़ा हो जाता है। जब वह उसे हटाने निकले तो उसने इनका पीछा किया। एक पेड़ पर चढ़कर चक्रधर ने अपनी जान बचाई; लेकिन साँड ने मोटर को चूर-चूर कर दिया। पास के एक गाँव में जाकर चक्रधर तुरन्त मोटर को ठेलकर ले चलने के लिए कहते हैं। "किसान लोग अभी थोड़ी ही देर पहले ऊख की सिंचाई करके आये थे। कोई बैलों को सानी-पानी दे रहा था, कोई खाने जा रहा था, कोई गाय दुह रहा था।" जब किसान पूछते हैं—कहाँ से आते हो, तो चक्रधर अपना प्रजा के नेता वाला रूप भूलकर सीधा जवाब देता है—"हम महाराज ही के यहाँ से आते हैं।"

किसान जब चलने से इन्कार करते हैं, तब चक्रधर उनसे जबरदस्ती बेगार लेना चाहता है। एक किसान को डाँटते हुए कहता है—"मैं सीधे से कहता हूँ, तो तुम लोग उड़नघाइयाँ बताते हो, अभी कोई चपरासी आकर दो घड़कियाँ जमा देता, तो सारा गाँव भेड़ की भाँति उसके पीछे चला जाता।" इस पर किसान उलटकर जवाब देता है—"सिपाही क्यों घुड़कियाँ जमायगा, कोई चोर हैं। हमारी खुशी, नहीं जाते। आपको जो करना हो कर लीजियेगा।" चक्रधर उस आदमी को धक्के देकर गिरा देता है। उसमें यह सुनने की ताब न थी कि किसान अपनी खुशी

को बेगार न करने का सबब बतलाये ।

तभी उस गाँव में चक्रधर का जेल का साथी धन्नासिंह उसे पहचान लेता है—चक्रधर के रूप में नहीं, जेल के अहिंसावादी भगत जी के रूप में—और कहता ह—"हाँ साहब, यह आदमी जिसे आप ठोकरें मार रहे हैं, मेरा सगा भाई है ।"

चक्रवर ने उस आदमी को इतने जोर से ठोकरें मारी थीं कि वह कुछ दिन में मर ही गया । जब उसकी लाश को लोग उठाकर ले जाते हैं, तब चक्रधर उधर से निकलता है; लेकिन लोगों को मुँह दिखाने की हिम्मत नहीं होती । धन्नासिंह और एक बूढ़े किसान की यह बातचीत उसे सुनाई देती है—

"बूढ़ा आदमी—भैया जेहल की दूसरी बात थी । तब दयावान रहे होंगे । तव राजा ठाकुर तो नहीं थे । राज पाकर दयावान रहें, तो जानो ।

"धन्नासिंह—दादा वह राज पाकर फूल उठने वाले आदमी नहीं थे । तुमने देखा, यहाँ से जाते-ही-जाते माफी दिला दी ।

"बूढा—अरे पागल, जान का बदला कहीं माफी से चुकता है । जान का बदला जान है । मन्ना की अभागिनी विधवा माफी लेकर चाटेगी, उसके अनाथ वालक माफी की गोद में खेलेंगे, या माफ़ी को दादा कहेंगे, तुम बाबू जी को दयावान कहते हो, मैं उन्हें सौ हत्यारों का एक हत्यारा कहता हूँ । राजा हैं, इससे बच जाते हैं, दूसरा होता. तो फाँसी पर लटकाया जाता । मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन उन पर इतना क्रोध आ रहा है कि मिल जायँ, तो खून चूस लूँ ।"

चक्रधर से वहाँ से भागते ही बन पड़ा ।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने निष्काम राजाओं की काम-चेष्टाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । विशालसिंह ने तीन ब्याह किये; लेकिन पुत्र का मुँह देखने से वंचित रहे । चौथी बार ब्याह किया तो एक ऐसी लड़की से, जो बाद में खुद उनकी पुत्री साबित हुई । गहनों को लेकर उनकी रानियों का वाद-विवाद सुनने लायक होता है ।

इसमें लौंगी बड़ी सजीव पात्र है। अपने आदर्शों पर हमेशा तो टिकी नहीं रहती, फिर भी मन, वचन और कर्म तीनों से वह बड़ी कर्मठ है। वह राजा से मनोरमा को ब्याहने का विरोध करती है। कहती है—"ब्याह जोड़ का अच्छा होता है। ऐसा ब्याह किस काम का कि वर बहू का बाप मालूम हो, बेचारी कन्या के दिन रोते ही बीतें।"

उसकी उक्ति में अज्ञात व्यंग्य है। जिससे मनोरमा का ब्याह होता है, वह आगे चलकर उसका पिता ही साबित होता है। उसे मरवाने के लिए मुंशी वज्रधर झिनकू नाम के सज्जन को ज्योतिषी बनाकर लाता है। जब झिनकू ज्योतिषी का भेस धरकर आता है, तब वज्रधर कहता है—"यार जरा सी कसर रह गई। तोंद के बगैर पंडित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, जभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पंडित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न हो जाय।............"

झिनकू जवाब देता है—"सरकार, तोंद होती तो आज मारा-मारा क्यों फिरता? मुझे भी न लोग झिनकू उस्ताद कहते? कभी तबला न होता तो तोंद ही बजा देता, मगर तोंद न रहने में कोई हरज नहीं है, यहाँ कई पंडित बिना तोंद के भी हैं।"

जिरह में हारकर उसे स्वीकार करना पड़ता है—"नही सरकार, कोई बड़ा पंडित तो नहीं है। तोंद के बिना कोई बड़ा हो ही कैसे जायगा।"

जब लौंगी के सामने ज्योतिषी बनकर खड़ा होता है, तब वह तुरन्त भाँप जाती है कि यह बना हुआ है। उसने कजरौटा निकालकर उस के मुँह पर काजल पोत दिया। "बहुत उछले-कूदे, बहुत फड़फड़ाये; पर लौंगी ने जौ-भर भी न हिलने दिया, मानो बाज ने कबूतर को दबोच लिया हो।"

मुंशी वज्रधर ने कोशिश की कि लौंगी का हाथ पकड़कर झिनकू को छुड़ा दे; लेकिन उल्टा उसी के नाग-पाश में फँसकर रह गए। लौंगी ने झिनकू को तो न छोड़ा, एक हाथ से तो उसकी गरदन पकड़े हुए थी, दूसरे हाथ से मुन्शी जी की गरदन पकड़ ली और बोली—"मुझसे जोर दिखाते हो

साला ! बड़े मर्द हो तो छुड़ा लो गरदन ! बहुत दूध-घी बेगार में लिया होगा। देखें वह जोर कहाँ है।"

बेगार के घी-दूध ने कुछ भी साथ न दिया। उस औरत से दोनों मर्द परास्त होकर घर आये। ज्योतिषियों की नक़ल का यह दृश्य जिसने दिखाया है, उसके लिए यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि वह पूर्वजन्म में विश्वास करता था।

चक्रधर का चरित्र आँकते हुए प्रेमचन्द ने पाठकों के हृदय में वही सत्य उतारा है जिसे 'ग़बन' का देवीदीन अपने ओजपूर्ण शब्दों में रमा से कहता है। उपन्यास में चमारों से बेगार कराये जाने का विरोध, राजा और अंग्रेज़ों द्वारा बन्दूकें चलाये जाने का प्रतिरोध, संगठित होकर उनकी बन्दूकें छीनने के लिए बढ़ना, जेल में कैदियों की दुर्दशा और उनके ऊपर दमन, वहाँ भी कैदियों का संगठित होकर बन्दूकें छीन लेना, चक्रधर द्वारा मन्नासिंह की हत्या और लाश जाते समय उस बूढ़े का क्रोध— ये सब घटनाएँ दृढ़ता से पाठक के मन पर अंकित हो जाती हैं। प्रेमचन्द ने जनता पर दमन होते पहले ही दिखलाया था। इस उपन्यास में वह एक नई चीज़ दिखलाते हैं—जनता दमन से आतंकित न होकर उसका मुकाबला करने बढ़ती है। और वह सफल हो सकती है अगर चक्रधर-जैसे लोग आकर अंग्रेज़ों और राजाओं की रक्षा न करने लगें।

'रंगभूमि' की मुख्य कथा अंधे भिखारी सूरदास को लेकर रची गई है, जो अपनी और गाँव की जमीन के लिए मरते दम तक लड़ता है। उसकी ज़मीन पर जॉन सेवक अपना कारखाना बनाना चाहता है; लेकिन वहाँ गाँव के जानवर भी चरते हैं। सूरदास वह ज़मीन बेचने से इन्कार करता है। वह बड़ा सहृदय और परोपकारी व्यक्ति है। वह सुभागी को अपने घर में टिका लेता है, जब उसका पति भैरों उसको बहुत मारता है। लोग सूरदास को बदनाम करते हैं और कुछ सलाह भी देते हैं कि वह ज़मीन बेच दे; लेकिन वह अपनी बात पर अटल रहता है। झूठे मुक़दमे में उसे जेल हो जाती है; लेकिन जनता उसका जुर्माना भरकर उसे छुड़ा

लाती है ।

सूरदास अपनी ज़मीन को पुरखों की यादगार समझता है। वह मरने के पहले वहाँ अपनी यादगार में कुछ बनवाकर छोड़ जाना चाहता है। सूरदास का विचार है कि वहाँ कारखाना बनेगा तो गाँव में दुराचार फैलेगा। कुँवर भरतसिंह का भी विचार है कि तमाखू की खेती हुई तो नाज महँगा हो जायगा। जॉन सेवक के ताल्लुक़ात एक तरफ़ कुँवर भरतसिंह-जैसे ताल्लुकेदारों से हैं तो दूसरी तरफ क्लार्क-जैसे अंग्रेज़ हाकिमों से भी। दोनों के साथ मिलकर वह अपना काम निकालना चाहता है। कहने को कहता है—"हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है।" लेकिन वास्तव में वह एक लूट का जाल रचता है जिसमें ज़मीदार और अंग्रेज़ भी शामिल रहते हैं। क्लार्क को वह अपनी लड़की सोफ़िया भी देने के लिए तैयार हो जाता है। वह अपने दिल में स्वीकार करता है—"तुमने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए यह प्रयत्न किया है।"

सूरदास अगर एक अत्यन्त सहृदय और परोपकारी मनुष्य है तो जॉन सेवक कठोर और घोर स्वार्थी पुरुष है। उसे अपने स्वार्थ के आगे कुछ नहीं सूझता, लोगों में फूट डालने और अपना काम बनाने में वह एक ही है। पंडे से कहता है—"यात्रियों के लिए सड़क के किनारे खपरैल के मकान बनवा दिए जायँगे।" अहीर से कहता है—"हाते में गाय-बैल चराने की इजाज़त दे दी जायगी।" पान वाले से कहता है—"मिल खुलने पर तुम्हारी बिक्री चौगुनी हो जायगी।" लड़कों के लिए मदरसा खुलवा देने का वायदा करता है। सूरदास अकेला पड़ जाता है, फिर भी वह लड़ता है। जॉन सेवक उससे कहता है—"अब व्यापार का राज्य है, और जो इस राज्य को स्वीकार न करे, उसको तारों को निशाना मारने वाली तोपें हैं।"

जब्र और फ़रेब से उसकी जमीन छीन ली जाती है। अब पाँडेपुर की बस्ती में मज़दूरों का जन्म होता है। इनमें अभी संगठन नहीं है। उन्होंने अपने एके की ताक़त को पहचाना नहीं है। मिल की नौकरी ने उन्हें जान-

वरों की तरह ज़िन्दगी बिताने पर मजबूर किया है। वे अपनी पुरानी परम्पराएँ खो रहे हैं और नई अभी गढ़ नहीं पाये। सूरदास उनके बारे में कहता है—"वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं, और रोज ऊधम मचाते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुईं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का हुल्लड़ रहा। जब तक मज़दूर लोग यहाँ काम पर नहीं आ जाते औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती।"

जॉन सेवक, उसके जागीरदार और अंग्रेज़ दोस्त मज़दूरों की इस बर्बाद ज़िन्दगी के लिए जिम्मेदार हैं। वे चाहते हैं कि ये लोग जानवरों की तरह रहें ताकि इन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान न हो और उनके स्वार्थ सुरक्षित रहें। मज़दूरों के लिए मकानों की ज़रूरत होती है तो किसानों से उनके घर खाली कराये जाते हैं। अंग्रेज़ हाकिम किसानों के साथ इस सब धाँधली में तटस्थ दिखाई देते हैं। वास्तव में वे जॉन सेवक का साथ देते हैं। उसकी मदद के लिए पुलिस पहुँच जाती है। लोग अपने बाप-दादों की देहरी छोड़ना नहीं चाहते। उन्हें जो मुआवज़ा दिया जा रहा है, वह खुली डकैती है। उसमें वे कहीं छप्पर डालकर भी नहीं रह सकते। अगर जॉन सेवक, कुँअर भरतसिंह वग़ैरह को उद्योग-धंधों की उन्नति से सचमुच प्रेम होता तो वे कहीं और ज़मीन खरीदकर मिल बनवा सकते थे। लेकिन अंधे भिखारी से ज़्यादा सस्ती ज़मीन उन्हें और कौन दे देता? सवाल था कौड़ी मोल ज़मीन लेने का। अगर जॉन सेवक और उसके दोस्त सचमुच औद्योगिक उन्नति के पक्षपाती थे तो वे मज़दूरों को इतनी बुरी हालत में क्यों रखते थे जो मिल को चलाने वाले थे, वे किसानों पर क्यों अत्याचार कर रहे थे, जो तमाखू की खेती करके उन्हें कच्चा माल दे सकते थे? जॉन सेवक के लिए स्वार्थ मुख्य चीज़ थी, उसे छिपाने के लिए दूसरी बातें बाद में याद आती थीं।

जब सिपाही लोगों के घरों में घुसकर सामान फेंकना शुरू करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि—"मानो दिन-दहाड़े डाका पड़ रहा हो।"

सूरदास अपनी झोंपड़ी छोड़ने से इन्कार कर देता है। चारों तरफ़ से जनता इकट्ठी हो जाती है और पुलिस को "मजबूर" होकर गोलियाँ चलानी पड़ती हैं। कई आदमी मारे जाते हैं, कई घायल होते हैं। इस तरह अंग्रेज़ी राज किसानों की ज़मीन उन्हीं के खून से तर करके अपने वफ़ादार दोस्त जॉन सेवक को भेंट करता है।

सूरदास प्रेमचन्द के उन पात्रों में है, जो जिन्दगी को एक संघर्ष समझते हैं और कितनी भी कठिनाइयाँ पड़ें, उनके सामने पीठ दिखाना नहीं जानते। सूरदास का चरित्र मिठुआ से उसकी बातचीत में बहुत अच्छी तरह झलकता है।

"मिठुआ—दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास—दूसरा घर बनायँगे।

मिठुआ—और जो कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास—तो फिर बनायँगे।

मिठुआ—और फिर लगा दे ?

सूरदास—तो हम भी फिर बनायँगे।

मिठुआ—और जो कोई हज़ार बार लगा दे ?

सूरदास—तो हम हजार बार बनायँगे।

मिठुआ—और जो कोई सौ लाख बार लगा दे ?

सूरदास—तो हम भी सौ लाख बार बनायँगे ?।"

मिठुआ बच्चों की तरह सवाल करता है और सूरदास बच्चों की ही तरह जवाब भी देता है; लेकिन उसके जवाब में चरित्र की दृढ़ता छिपी है। सूरदास हिंदुस्तान के उन किसानों में हैं जिनमें रचने की, निर्माण करने की तीव्र आकांक्षा है और जिनकी बनाई हुई चीज़ों को लाख बार बरबाद करने पर भी नया निर्माण करने के लिए फिर कमर कसकर तैयार हो जाते हैं।

अंग्रेज़ी राज का प्रतिनिधि क्लार्क सूरदास से डरता है इसलिए कि सूर अन्याय नहीं सह सकता और जनता उसका आदर करती है। वह

उन लोगों से नहीं डरता जो देश-भक्ति का नाटक करते हैं, लेकिन अमल में जो अंग्रेज़ी राज का बाल भी बाँका नहीं कर सकते। क्लार्क राजा महेन्द्रसिंह से कहता है—"हमें आप-जैसे मनुष्यों से भय नहीं है, भय ऐसे मनुष्यों से है जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं।"

सूरदास मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ कहता है—"हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं। कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फ़रक है।"

सूरदास की जीत क्यों नहीं हुई? इसलिए कि खिलाड़ी आपस में मिलकर न खेले थे, आपस में झगड़ते रहे थे। क्या उसकी बात सच है? किसान आपस में झगड़ते रहे थे; मज़दूरों में न आपसी एका था, न उन्होंने किसानों से एका किया था। फिर क्लार्क और जॉन सेवक की जीत क्यों न होती? इसके अलावा सूरदास के शत्रु ज़्यादा निपुण हैं। वह कहता है—फिर जीतना है तो सावधान होकर इनसे खेलना। सूरदास मानो अपनी मृत्युशय्या से संदेश देता है—"अगर अपने उजड़े हुए घर बसाने हैं तो अपना एका मज़बूत करो।"

तब क्या उसका संघर्ष व्यर्थ हुआ? नहीं, व्यर्थ नहीं हुआ। उसके संघर्ष ने उसके और उसके साथियों के आत्म-सम्मान की रक्षा की। सूरदास को गर्व है वह कायरों की तरह मैदान छोड़कर नहीं भागा; उसे दृढ़ विश्वास है कि वह जीतेगा यानी न्याय का पक्ष जीतेगा, भले ही सूरदास व्यक्तिगत रूप से दुनिया में न रहे। वह कहता है—"हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोए तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, अवश्य होगी।"

'रंगभूमि' उपन्यास सन् '३० का आन्दोलन छिड़ने के पहले लिखा गया था। प्रेमचन्द ने मानो भविष्य की तरफ देखते हुए तमाम हिंदुस्तान की जनता की तरफ़ से अंग्रेज़ी राज को चनौती देते हुए सूरदास से कहलाया

है—"फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो।"

प्रेमचन्द ने सूरदास का सबसे बड़ा गुण बताया है—"अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"

इस गुण के कारण 'रंगभूमि' के और सभी पात्र उसके सामने चेनी ठहरते हैं।

सोफ़िया और विनय की प्रेम-कहानी का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए 'रंगभूमि' के पूरे कथा-गठन में एक शिथिलता है, जो 'सेवा सदन' या 'प्रेमाश्रम'-जैसे उपन्यासों में नहीं है। सोफ़िया एक मानवतावादी विचारों की लड़की है। वह धर्म के बन्धन नहीं मानती। 'रंगभूमि' शायद हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें एक ईसाई लड़की और एक हिंदू लड़के का प्रेम दिखाया गया है। प्रेमचन्द प्रेम-सम्बन्ध को धार्मिक पाबन्दियों से ऊँची चीज़ समझते थे, इसलिए उन्हें कोई तोड़े तो इसे अच्छा मानते थे। आगे चलकर 'कर्मभूमि' में उन्होंने मुसलमान लड़की सकीना से हिंदू लड़के अमरकान्त का प्रेम दिखाया है। सकीना सोफ़िया से ज़्यादा बहादुर लड़की है। वह ग़रीब है, इसलिए उस पर एक हद तक पाबन्दी भी और सख़्त है, फिर भी वह पाबंदियाँ तोड़ने के लिए ज़्यादा तत्पर है।

सोफ़िया से विनय के प्रेम की बात जानकर उसकी माँ उसे राजस्थान भेज देती है। वहाँ वह राजाओं के विचित्र रूप देखता है। एक राजा साहब शिव के परम भक्त हैं, लेकिन अंग्रेज़ रेजीडेंट से जितना डरते हैं, उतना शिव जी से भी नहीं। प्रेमचन्द ने दिखलाया है कि राजा और जागीरदार अंग्रेज़ों की कठपुतलियाँ हैं। वहाँ की प्रजा को दोहरा ज़ुल्म सहना पड़ता है—एक तो अंग्रेज़ का, दूसरा उसकी कठपुतली का। रियासतों में प्रजा के दुःख-सुख की चिन्ता कोई नही करता। प्रजा राजा के सुख का सामान जुटाने के लिए है। रियासत का दीवान विनय से कहता है—"रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिये, जहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुज़र नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के बख़्शी ख़्वाजासरा हैं। हम किसी की

प्रेम-रस-पूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देंगे, कोई मनचला जवान इधर कदम रखने का साहस नहीं कर सकता ।"

विनय की मुलाक़ात वीरपाल नाम के आतंकवादी से होती है । वह किन परिस्थितियों में आतंकवादी हुआ इसकी कहानी रोचक है । वह अपने गाँव का मुखिया था । उसका इलाक़ेदार गाँव की एक नौजवान विधवा को निकाल ले जाना चाहता था । इलाक़ेदार के आदमी जब उस विधवा के घर में घुसे तब वीरपाल भी अपने साथियों के साथ मुक़ाबले पर पहुँच गया । इलाक़ेदार के आदमी पिटकर भाग गए; लेकिन वह प्रभावशाली आदमी था । चोरी के झूठे मुक़दमे में वीरपाल को फँसाते उसे देर न लगी । वीरपाल को मजबूर होकर राजा से लड़ते हुए जंगलों में रहना पड़ता है । उसे डाकू कहकर बदनाम किया जाता है लेकिन प्रजा उससे प्रेम करती है और उसके पास अच्छा ख़ासा दल इकट्ठा हो जाता है ।

विनय राजा से मिल जाता है। 'ग़बन' के रमानाथ और 'कर्मभूमि' के अमरकान्त की तरह उसे भी फिसलते देर नहीं लगती । वह दलील देता है—"वह उन्हीं साँगा और प्रताप के वंशज हैं, जिन्होंने हिंदू जाति की रक्षा के लिए आपने प्राणों की आहुति दे दी थी ।" इसलिए वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि "वे हमारे साथ अन्याय भी करें, तो भी हम ज़बान न खोलेंगे ।"

रियासतों में किस तरह के आतंक से जनता को दबाया जाता है, प्रेमचन्द ने इसका बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है "डाकुओं" को इस तरह दबाया जाता है कि "वहाँ कोई जवान आदमी न रहा ।" जनता का नाश—यह था खूनी आतंक का तरीक़ा । विनय जिस रियासत में हिंदू जाति के गौरव की रक्षा कर रहा था, उसी में अंग्रेज़ और उसके दलाल हिंदुस्तान के नौजवानों के खून से होली खेल रहे थे ! जब रेज़ीडेंट दौरे पर निकलते तब "एक अंगरेज़ी रिसाला साथ ले लेते, और इलाक़े-के-इलाक़े उजड़वा देते । गाँव-के-गाँव तबाह करवा देते । यहाँ तक कि स्त्रियों पर भी अत्याचार होता था ।" विनय इन सब कामों में अंग्रेज़ रेज़ीडेंट और उसके

देशी चाकरों का साथ देता था—"रियासत और क्लार्क के इन सारे दुष्कृत्यों में विनय भी मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग करते थे। विद्रोहियों के दमन में कोई इतना हृदय-हीन, विचार-हीन, न्याय-हीन न बन सकता था।

विनय ने जो पुनरुत्थानवाद का दृष्टिकोण अपनाया था, उसका यही नतीजा हो सकता था। वह खुद एक राजा का लड़का था। मान और प्रतिष्ठा के लिए उसने देश-भक्ति का अभिनय किया था। प्रजा उसकी नज़रों में कुछ न थी। वह अपने जागीरदारी वर्ग का सच्चा हिमायती था। इसलिए जब उसने जनता को अपने वर्ग के अधिकारों पर हमला करते देखा, तो वह आपे से बाहर हो गया। हिंदू जाति की गौरव-गाथा उसके लिए एक चादर थी जिससे वह अपनी वास्तविकता को ढकना चाहता था। विनय का पतन दिखाकर प्रेमचन्द इस पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से पाठक को आगाह करते हैं। हिंदू जाति का गौरव-रक्षक प्रजा पर ऐसे अत्याचार करता है कि पुलिस और रियासत के कर्मचारी भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते।

विनय ने एक बुढ़िया के लड़के को "विद्रोह" करने के अपराध में जेल भिजवा दिया था। बुढ़िया भीख माँग-माँगकर खाती है। विनय से मिलने पर उसे बिना पहचाने हुए कहती है—"भगवान् उस अधम पापी विनयसिंह का बुरा करे। उसी के कारण बुढ़ापे में यह दिन देखना पड़ा।" एक पंडित जी कहते हैं—"सैकड़ों घर उजाड़कर न जाने कहाँ चल दिया। ....पुरश्चरण का पाठ कर रहा हूँ। जिस दिन सुनूँगा कि उस हत्यारे पर देवी ने कोप किया, उसी दिन मेरी तपस्या पूरी हो जायगी।"

सारी जनता विनय से घृणा करने लगती है। उसकी हिम्मत नहीं होती कि अकेले-दुकेले किसी को मुँह दिखाये। जब वह सूरदास के गाँव पहुँचता है, तब वहाँ भी लोग उसका विश्वास नहीं करते और उनके तानों से परेशान होकर वह आत्म-हत्या कर लेता है।

इनके बहनोई राजा महेंद्रप्रतापसिंह कम नहीं हैं। पहले बड़े ऐयाश थे; बाद में सादा जीवन बिताने लगे। वह म्युनिसिपैलिटी के प्रधान हैं और

लोगों में समानता और न्याय के विचारों के समर्थक होने का अभिनय भी करते हैं। वास्तव में वह न्याय और समानता की बातें कहकर अपने सामन्ती विशेषाधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं। जॉन सेवक से इनकी साँठ-गाँठ रहती है। सूरदास के बारे में वह जॉन सेवक से कहते हैं—"मुझे तो वह बहुत ही ग़रीब सीधा-सा आदमी मालूम होता है, मगर है छँटा हुआ। उसकी दीनता पर तरस खाकर मैंने निश्चय किया था कि आपके लिए कोई ज़मीन तलाश करूँ। लेकिन अब उन लोगों ने शरारत पर कमर बाँधी है और आपको ज़बर्दस्ती वहाँ से हटाना चाहते हैं, तो इसका उन्हें अवश्य दंड मिलेगा।"

यह दिलचस्प बात है कि राजा महेंद्रप्रतापसिंह-जैसे सामन्तवादी लोग जॉन सेवक के सहायक हैं। उसकी औद्योगिक क्रांति से इनका बाल भी बाँका नहीं होता; बल्कि वे इस नई लूट-खसोट में भी शरीक होना चाहते हैं। जॉन सेवक की औद्योगिक क्रांति से नुक्सान होता है केवल किसानों का। प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में बड़ी खूबी से दिखलाया है कि ऐसे पूंजीपति, जिनकी साँठ-गाँठ ज़मींदारों और राजाओं से होती है, अंग्रेज़ी राज के परम भक्त और सहायक होते हैं। सूरदास इन सबकी ताक़त को चुनौती देता है। उसकी लड़ाई वस्तुतः सामन्त-विरोधी और साम्राज्य-विरोधी है।

राजा महेंद्रप्रताप के अनुसार सूरदास-जैसे लोग अशान्ति फैलाने वाले हैं। इसलिए राजा साहब न्याय और समानता के समर्थक होते हुए भी इन लोगों पर दमन-चक्र चलाया जाना बुरा नहीं समझते। सूरदास अपनी पैतृक भूमि के लिए लड़ता है, गाँव वालों के हित के लिए लड़ता है, यह राजा साहब की नज़रों में अशान्ति फैलाना है। अंग्रेज़ी राज और अपने सामन्ती हितों की रक्षा के लिए ऐसे लोग ऐसी ही थोथी दलीलें दिया करते हैं।

राजा महेन्द्रप्रताप कहते हैं—"यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर जो अशान्ति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से, धनवाद, एकवाद,

सभी वाद अच्छे हैं।"

राजा साहब उन राजनीतिज्ञों में से हैं जो सिद्धान्त-चर्चा में तब तक किसी से पीछे नहीं रहते जब तक कि उनके सिद्धान्तों को अमल की आँच न लगे। जहाँ उनके विशेषाधिकारों के लिए खतरा पैदा हुआ, वहीं वे अशान्ति-अशान्ति की पुकार मचाने लगते हैं।

'रंगभूमि' सन् '२० और '३० के आन्दोलनों के बीच हिन्द-प्रदेश की रंगभूमि है। इसमें राजा, ताल्लुकेदार, पूँजीपति, अंग्रेज़-हाकिम, किसान, मज़दूर—हिन्दुस्तानी जीवन की एक विशद झाँकी देखने को मिलती है। नायकराम का हास्य, सोफ़िया की सरलता, विनय का साहस, राजा महेन्द्र-प्रताप की धूर्तता, जॉन सेवक की स्वार्थपरता, वीरपाल का साहस, सूरदास की दृढ़ता पाठक के हृदय पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं। अभी तक प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास में इतने अविस्मरणीय पात्र एक साथ न मिले थे। यह उनके बढ़ते हुए कौशल का परिचय था।

'रंगभूमि' का सम्बन्ध ठेठ हिन्दुस्तानी जनता से है। उसे किसी विदेशी कृति की नक़ल या उससे अनुप्राणित समझना भ्रम है। प्रेमचन्द की पैनी निगाह देख रही थी कि हिन्दुस्तान की जनता लड़ रही है—बिना किसी पार्टी की मदद के, बिना किसी राजनीतिक नेता की सलाह का फ़ायदा उठाये। यह सन् '२० और '३० के बीच का उपन्यास है जब हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन न हो रहा था, जब अंग्रेज़ कहते थे कि देश में शान्ति है। तब भी सूरदास लड़ रहा था। और मृत्यु-शय्या से पुकारकर कह रहा था—"फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो।" यह भारत की अजेय जनता का स्वर था।

६

'कर्मभूमि'

'कर्मभूमि' हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास है। यह आन्दोलन एक जबरदस्त सैलाब की तरह तमाम जनता को अपने अन्दर समेट लेता है। विद्यार्थी, किसान, अछूत, स्त्रियाँ, शिक्षक, व्यापारी, मजदूर—सभी इसके प्रवाह में आगे बढ़ चलते हैं। 'प्रेमाश्रम' के किसान अब अकेले नहीं हैं। उनकी लड़ाई के साथ तमाम जनता अपनी आजादी की लड़ाई में आगे बढ़ रही है। आन्दोलन में जनता से नये नेता पैदा होते हैं। लाठी-चार्ज होते हैं, गोलियाँ चलती हैं; लेकिन लोग अपनी सफ़ें मजबूत करते हुए आगे बढ़ते हैं।

प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन के दिनों लिखा था। यह एक दिलचस्प बात है कि नमक-कानून तोड़ने का आन्दोलन इसका विषय नहीं है। प्रेमचन्द की दृष्टि जनता के उन स्तरों की तरफ़ जाती है जो अपनी जिन्दगी और मौत की समस्या हल करने के लिए इस आन्दोलन में आगे बढ़ते हैं। 'कर्मभूमि' हिन्दुस्तानी जनता के उन स्तरों को रंगमंच पर ला खड़ा करती है। जिनके दर्शन पहले हिन्दी-कथा-साहित्य में कम हुए थे। ये शहर और गाँवों के ग़रीब अछूत हैं।

प्रेमचन्द केवल यथार्थ का अक्स उतारने वाले कलाकार नहीं थे। वे यथार्थ के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को परखकर उन्हें उपन्यास में विशेष स्थान देते थे। यही सबब है कि 'कर्मभूमि' में वह सबसे ज़्यादा ज़ोर ज़मीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, खेत-मजदूरों और ग़रीब किसानों के लिए जमीन की समस्या पर देते हैं।

अमरकान्त महाजन लाला समरकान्त के बेटे हैं? राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव से समाज-सेवा के कामों में भाग लेते हैं। पिता और पत्नी विरोध करते हैं। घर से झगड़ा करते हैं और एक गाँव में जाकर किसानों का संगठन

करते हैं। आगे चलकर उनके घर वाले भी आन्दोलन में शामिल होते हैं और वह अपने घर वापस आते हैं।

अमरकान्त अच्छे खाते-पीते ख़ानदान के आदमी हैं, लेकिन इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तान की ग़रीबी पर ध्यान केन्द्रित किया है। उन्होंने यह दिखलाया हैं कि हिन्दुस्तान की आज़ादी इन ग़रीबों के लिए सबसे पहले है और वे आज़ादी की लड़ाई में सबसे बड़ी ताक़त भी हैं। विद्यार्थी जीवन में अमरकान्त अपने दोस्त सलीम के साथ गाँवों की आर्थिक दशा का अध्ययन करने जाता है। उनकी ग़रीबी देखकर उसकी आँखें खुल जाती हैं और उसके राष्ट्रीय विचार और दृढ़ होते हैं। उसे ताज्जुब होता है कि अमलों और महाजनों को उन पर दया नहीं आती। उसके प्रोफ़ेसर शान्तिकुमार जवाब देते हैं—"दया और धर्म की बहुत दिनों परीक्षा हुई और यह दोनों हल्के पड़े। अब तो न्याय-परीक्षा का युग है।" यहाँ पर प्रेमचन्द ने वह सूत्र लिख दिया है जिस पर पूरा उपन्यास एक व्याख्या मालूम होता है।

ग़रीबी देहातों तक सीमित नहीं है। प्रेमचन्द की निगाह शहर के अन्दर दो तरह के घर और मुहल्ले देखती है—एक ग़रीबों का दूसरा अमीरों का। अब अमरकान्त सकीना की माँ को छोड़ने उसके घर जाता है तो वहाँ की बदबू और रहन-सहन देखकर सिहर उठता है। ऐसा मालूम होता है कि शहर का नाम एक है लेकिन वास्तव में शहर दो हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं—

"गली में बड़ी दुर्गन्ध थी। गन्दे पानी के नाले दोनों तरफ़ बह रहे थे। घर प्रायः सभी कच्चे थे। ग़रीबों का मुहल्ला था। शहरों के बाज़ारों और गलियों में कितना अन्तर है! एक फूल है—सुन्दर, स्वच्छ, सुगन्धिमय; दूसरी जड़ है—कीचड़ और दुर्गन्ध से भरी, टेढ़ी-मेढ़ी; लेकिन क्या फूल को मालूम है कि उसकी हस्ती जड़ से है?"

प्रमचन्द के अनुसार समरकान्त और उनके वर्ग के लोगों का सुख और विलास इन्हीं गन्दे मुहल्लों में रहने वालों की मेहनत पर टिका हुआ है यद्यपि धनी लोग यह नहीं समझते कि उनकी संस्कृति और वैभव से दूसरों की मेहनत का भी कोई सम्बन्ध है।

सकीना का घर शहर के औसत ग़रीब का घर है। प्रेमचन्द ने उसका वर्णन यों किया है—

"द्वार एक परदे की दीवार में था। उस पर एक टाट का फटा-पुराना परदा पड़ा हुआ था। द्वार के अन्दर कदम रखते ही एक आँगन था, जिसमें मुश्किल से दो खटोले पड़ सकते थे। सामने खपरैल का एक नीचा सायबान था और सायबान के पीछे एक कोठरी थी, जो इस वक्त अँधेरी पड़ी हुई थी। सायबान में एक किनारे चूल्हा बना हुआ था और टीन और मिट्टी के दो-चार बरतन, एक घड़ा और एक मटका रखे हुए थे।"

इन तंग गलियों और गन्दे मकानों में आज़ादी के आन्दोलन की हवा टाट के परदे उठाकर घुस रही थी। हिन्दू और मुसलमान, औरत और मर्द, बूढ़े और जवान, सभी देश को स्वाधीन करने के लिए और अपनी नरक की ज़िन्दगी से छुट्टी पाने के लिए आगे बढ़ रहे थे। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में बराबर इस चीज़ पर ज़ोर देते है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की बुनियादी समस्याएँ एक हैं, इसलिए उन्हें मिलकर उन्हें हल करना चाहिए। 'कर्मभूमि' में उन्होंने यही नहीं दिखाया कि दोनों की आर्थिक समस्याएँ एक हैं, बल्कि एक आज़ाद इन्सानियत की संस्कृति गढ़ने में उनकी सांस्कृतिक समस्याएँ भी एक-जैसी हैं।

सकीना की माँ पठानिन के सामने बेटी के विवाह की समस्या है वह अमरकान्त से इसका ज़िक्र करती है तो वह अपने दोस्तों से इस बारे में बात करने का वादा करता है। पठानिन जानती है कि अमरकान्त एक अमीर का लड़का है, इसलिए उसके दोस्त भी अमीर होंगे। फिर वे ग़रीब के घर क्यों शादी करने लगे? वह कहती है—

"तो भला धनी लोग हम ग़रीबों की बात क्यों पूछेंगे। हालाँकि हमारे नबी का हुक्म है कि शादी-ब्याह में अमीर-ग़रीब का विचार न होना चाहिए; पर उनके हुक्म को कौन मानता है! नाम के मुसलमान, नाम के हिन्दू रह गए हैं। न कहीं सच्चा मुसलमान नज़र आता है, न सच्चा हिन्दू।"

पठानिन का मतलब है कि मुँह से तो सब बराबरी और भाईचारे की

बातें करते हैं, लेकिन जब अमल का सवाल आता है तो वे सिद्धान्तों को उठाकर ताक पर रख देते हैं।

अमरकान्त इस बात का महत्त्व नहीं समझता कि ग़रीबों को आधार बनाने से आज़ादी के आन्दोलन को कितनी ताकत मिलेगी। जब मुन्नी को छुड़ाने के लिए—जिसने अपने बेइज्ज़ती का बदला लेने के लिए दो अंग्रेज़ फौजियों को मार डाला था–शहर में चन्दा होता है तो उसका ध्यान पठानिन-जैसे गरीबों की तरफ़ नहीं जाता। लेकिन पठानिन के लिए मुन्नी को छुड़ाने की लड़ाई उसकी अपनी लड़ाई है। इसलिए अपनी लड़की के काढ़े हुए रूमाल बेचकर उसने जो दो रुपये इकट्ठे किये थे, उन्हें अमरकान्त को देने के लिए वे बेचैन हो जाती हैं। अमरकान्त का नेता वाला घमंड चूर हो जाता है। "वह अपने को कुछ समझने लगा था। जिधर निकल जाता, जनता उसका सम्मान करती; लेकिन इन फ़ाकेमस्तों का यह उत्साह देखकर उसकी आँखें खुल गई।" फिर भी वह चन्दा लेने से इन्कार करता है। तब सकीना कहती है—"जहाँ ग़रीबों के रुपये नहीं पूछे जाते, वहाँ ग़रीबों को कौन पूछेगा।"

तब भी अमरकान्त की आँखें नहीं खुलतीं। वह अपने को गरीबों में से एक नहीं समझता हालाँकि मुँह से यही कहता है। घर में लड़का होने पर दुनिया भर के लोग बुलाये जाते हैं लेकिन उसे पठानिन को बुलाने का ध्यान नहीं आता। अमरकान्त की खातिर उसने अपना पेट काटकर एक रेशमी कुर्ता और टोपी तैयार की थी। इसका महत्त्व तब मालूम होता है जब एक दिन वह सकीना के घर जाता है और उसे गीले कपड़े पहने हुए रोती हुई पाता है। वह दरवाज़ा बन्द करके अपनी एक-मात्र पोशाक धोकर सुखा रही थी। जब अमरकान्त आया तो उसे उन्हीं गीले कपड़ों से तन ढँककर दरवाज़ा खोलना पड़ा। इस गरीबी में भी सकीना और उसकी माँ-जैसे लोग सच्ची देश-भक्ति और भाई-चारा निबाहने के लिए तैयार रहते थे।

ग़रीबों की तो यह हालत है, लेकिन सुसंस्कृत अंग्रेज़ी राज्य ने गोरे फ़ौजियों को हत्या और बलात्कार की पूरी छूट दे रखी है। अमरकान्त

और उसके साथ के विद्यार्थी जब गाँवों का आर्थिक जीवन देखकर लौटते हैं, तब अचानक उन्हें अरहर के खेत से एक स्त्री का चीत्कार सुनाई देता है। लड़के डंडे सँभालकर खेत की तरफ़ लपकते हैं। दो गोरे बाहर खड़े हुए पहरेदारी कर रहे थे। उनमें से एक लड़कों को ठोकर मारने की धमकी देता है। इसके बाद के संघर्ष का वर्णन प्रेमचन्द ने इस तरह किया है—

"इतना उसके मुँह से निकलना था कि डॉ० शान्तिकुमार ने लपककर उसके मुंह पर घूंसा मारा। सैनिक के मुँह पर घूंसा पड़ा, तिलमिला उठा; पर था घूँसेबाजी में मँजा हुआ। घूंसे का जवाब दिया तो डॉक्टर साहब गिर पड़े। उसी वक्त सलीम ने अपनी हाकी स्टिक उस गोरे के सिर पर जमाई। चौंधिया गया, ज़मीन पर गिर पड़ा और जैसे मूर्छित हो गया। दूसरे सैनिक को अमर और एक दूसरे छात्र ने पीटना शुरू कर दिया था; पर वह इन दोनों युवकों से भारी था। सलीम इधर से फुरसत पाकर उस पर लपका। एक के मुकाबले में तीन हो गए। सलीम की स्टिक ने इस सैनिक को भी ज़मीन पर सुला दिया। इतने में अरहर के पौधों को चीरता हुआ तीसरा गोरा आ पहुँचा। डॉक्टर शान्तिकुमार सँभलकर उस पर लपके ही थे कि उसने रिवाल्वर निकालकर दाग़ दिया"

लड़के शान्तिकुमार की देख-भाल करने लगे। मुमकिन है, वह गोरा उन पर फिर गोली चला देता। लेकिन वहाँ कुछ मजदूर भी खड़े थे। शान्तिकुमार को गिरते देखकर उन्होंने गोरों पर हमला किया। "सब-के-सब अपनी लकड़ियाँ सँभालकर गोरे पर दौड़े। गोरे ने रिवाल्वर दागा! पर निशाना खाली गया। इसके पहले कि वह तीसरी गोली चलाये, उस पर डंडों की वर्षा होने लगी और एक क्षण में वह आहत होकर गिर पड़ा।"

प्रेमचन्द का यह उपन्यास स्वाधीनता-आन्दोलन के उस दौर का है, जब लोग अंग्रेज़ों का मनमाना अत्याचार सहने के लिए तैयार न थे। वे अब अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने लगे थे। इसके लिए वे जो भी साधन मिलें, उनका उपयोग करने के लिए तैयार थे। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में पहली बार मज़दूरों और विद्यार्थियों को एक साथ अंग्रेज़ों का मुकाबला

करते दिखाया है। जैसा कि सभी लोग जानते हैं, इसके बाद भी नौजवानों ने अनेक बार मज़दूरों और किसानों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों का मुकाबला किया था। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी को पकड़ा था और उसका यहाँ चित्रमय वर्णन किया है।

आगे चलकर उपन्यास में वह दिखलाते हैं कि अंग्रेज़ों ने जिसे दलित और अपमानित किया था, उसी को जनता श्रद्धा की दृष्टि से देखती है।

मुन्नी का जो अपमान हुआ था, उसे वह भूल न सकती थी। प्रेमचन्द स्त्रियों की बेहद इज़्ज़त करते थे। उन पर किसी भी तरह का अन्याय और अत्याचार देखकर उनका खून खौल उठता था। मुन्नी जब खेत से निकलती है, तब उनकी लेखनी बहुत ही थोड़े और संयत शब्दों में उस करुण दृश्य का वर्णन करती है लेकिन उन शब्दों के पीछे प्रेमचन्द के मानवता-प्रेमी हृदय की रोषाग्नि छिपी हुई है। "उसी वक्त एक युवती खेत से निकली और मुँह छिपाये, लँगड़ाती, कपड़े सँभालती, एक तरफ़ चल पड़ी। अबला लज्जावश, किसी से कुछ कहे बिना, सबकी नज़रों से दूर निकल जाना चाहती थी। उसकी जिस अमूल्य वस्तु का अपहरण किया गया था, उसे कौन दिला सकता था? दुष्टों को मार डालो, इससे तुम्हारी न्याय-बुद्धि को सन्तोष होगा, उसकी तो जो चीज़ गई, वह गई। वह अपना दुःख क्यों रोये, क्यों फ़रियाद करे, सारे संसार की सहानुभूति, उसके किस काम की है!"

मुन्नी पागल की तरह घूमा करती है। वह घर लौटकर नहीं जाती, क्योंकि उसकी जाति वाले उस "अपवित्र" नारी को कैसे ग्रहण करेंगे? एक दिन वह कान्त की दुकान पर दो फौजियों को मार डालती है। पहले लोग उसे हत्यारिन समझते हैं, लेकिन जहाँ उन्हें उसकी असली कहानी का पता चलता है, वे सब उसके साथ हमदर्दी का व्यवहार करने लगते हैं। प्रेमचन्द ने आम जनता की सहृदयता को आँकने में यहाँ कमाल कर दिया है। उन्होंने जनता के हृदय में छिपे हुए कोमल भावों को जागते हुए दिखाया है। एक वीर नारी की रक्षा के लिए जनता एक जबरदस्त घेरा डाल देती है। स्त्रियों को उससे विशेष सहानुभूति है। सहानुभूति ही नहीं, उन्हें उस पर गर्व भी है।

अमरकान्त की पत्नी सुखदा कहती है–"अगर इसको फाँसी हो गई, तो मैं समझूँगी, संसार से न्याय उठ गया। उसने कोई अपराध नहीं किया। जिन दुष्टों ने उस पर एसा अत्याचार किया, उन्हें यही दण्ड मिलना चाहिए था। मैं अगर न्याय के पद पर होती, तो उसे बेदाग़ छोड़ देती। ऐसी देवी की तो प्रतिमा बनाकर पूजना चाहिए। उसने अपनी सारी बहनों का मुख उज्ज्वल कर दिया।"

सुखदा के शब्दों में प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी स्त्रियों के चरित्र की विशेषता प्रकट की है। अन्यायी को दण्ड मिलने पर ऐसा हर्ष वे ही प्रकट कर सकती थीं, इसलिए कि गुलामी और अन्याय का बोझ पुरुषों से ज़्यादा उन्हें सहना पड़ता था। इससे पहले भी जब अमरकान्त और उसके साथी एक दूसरे को पीठ ठोंकते हुए गोरों पर फ़तह पाकर लौटे थे, तब सुखदा ने ही अमरकान्त से उस स्त्री के बारे में पूछा था जिसके साथ गोरों ने बलात्कार किया था। अमरकान्त और उसके साथियों ने उसकी कोई खबर न ली थी। तब सुखदा उसे डाटकर कहती है–"एक दिन जाकर सब कोई उसका पता क्यों नहीं लगाते, या स्पीच देकर ही अपने कर्तव्य से मुक्त हो गए।"

सुखदा ने अमरकान्त के चरित्र की कमजोरी को अच्छी तरह पहचान लिया है। उसमें नेता बनने की साध जितनी है, उतना जनता से प्रेम नहीं। इसीलिए उसका मनोबल दृढ़ नहीं है और उसे कभी-कभी जब आगे बढ़ना चाहिए, वह पीछे पैर हटाता है। प्रेमचन्द ने जान-बूझकर उसकी इन कमज़ोरियों को चित्रित किया है। एक ही वातावरण में रहने वाले स्त्री और पुरुष का वह भेद बतलाते हैं; एक ही देश में रहने वाले धनी और ग़रीब स्त्री-पुरुषों के भेद पर भी वह प्रकाश डालते हैं। कान्त 'गबन' के रमा की तरह बोदा नहीं है। वह लड़कपन से सार्वजनिक कामों में हिस्सा लेता रहा है। इसलिए उसके चरित्र में दूसरी तरह की विशेषताएँ आ गई हैं। फिर भी कुछ बातों में वह रमाकान्त से मिलता है जिनमें मन की दृढ़ता का न होना मुख्य है। प्रेमचन्द ने उपन्यास के आरंभ में ही उसके लिए बहुत ठीक लिखा है–"और वह दिन तो अभी दूर, बहुत दूर था, जब उसके चित्त

की वृत्ति ही बदल जाय।" प्रेमचन्द ने परिस्थितियों के साथ उसकी वृत्ति को बदलते हुए दिखाया है लेकिन वह दिन सचमुच बहुत ही दूर था, जब उसके चित्त की वृत्ति पूरी तरह बदल जाय। वह दिन इस उपन्यास के अन्त तक भी नहीं आ पाता 'गबन' का रमा जैसे बहुत बदलने पर भी अन्त में नदी के किनारे अपने संस्कार प्रकट कर ही देता है, उसी तरह 'कर्मभूमि' के अन्त तक भी अमरकान्त अपने चित्त की वृत्ति को बहुत-कुछ बदल चुकने पर भी उसे पूरी तरह नहीं बदल पाता। यह ध्यान में रखना इसलिए आवश्यक है कि प्रेमचन्द का सन्देश समझने के लिए अमरकान्त काफ़ी नहीं है; हमें सुखदा, सकीना, सलीम, मुन्नी वगैरह की बातों पर भी ध्यान देना होगा।

जज के सामने अपने बयान में मुन्नी कहती है—"जो सदा सुख भोगा करते हैं और रोटियों को तरसते हैं, उन्हें जीवन कुछ कम प्यारा नहीं होता।" मुन्नी को भी जीवन प्यारा है, इस अर्थ में नहीं कि उसे जान प्यारी है। वह जीना चाहती है, एक सुखी, समृद्ध जीवन, कर्म और आनन्द का जीवन। फिर भी वह पति के साथ जाने से इन्कार कर देती है। इसका कारण यह है कि उसका पति ऊँची जाति का है। यही नहीं कि बिरादरी वाले उसे वापस लेने पर आपत्ति करेंगे बल्कि यह भी कि उसके पति का हृदय भी पूरी तरह उसे स्वीकार न करेगा। उसका पति उसे वापस ले जाने की बड़ी कोशिशें करता है और शायद मुन्नी ज़रूरत से ज़्यादा जाति-बिरादरी के बारे में शंका करती है। लेकिन यह सच है कि अगर वह अपने पति के पास फिर लौटकर नहीं जाती तो इसका मुख्य कारण जाति-प्रथा से पैदा होने वाले कुसंस्कार और भय हैं।

मुन्नी को चमारों के गाँव में आश्रय मिलता है और उसे उतना सुख मिलता है जितना पहले कभी न मिला था। इसका कारण यह है कि इन "नीच" जाति के ग़रीब किसानों और खेत-मजदूरों में जाति-प्रथा के वे बन्धन नहीं हैं जो "ऊँची" जाति वालों में पाये जाते हैं। उनमें एक दूसरे के प्रति हमदर्दी और भाई-चारा ज़्यादा है। जब अमरकान्त उसी गाँव में पहुँचता है तो मुन्नी के हृदय में सोते हुए जीवन के अंकुर फूट निकलने

लिए फिर कसमसाते हैं। अमरकान्त को देखकर वह बुढ़िया सलोनी से कहती है–"ऐसे भोले-भाले पाहुने को तो मैं अपने घर ले जाऊँगी।"

मुन्नी की ज़िन्दादिली उसके नाच में प्रकट होती है। यह स्त्री, जो पति-वियोग, बलात्कार, दर-दर भीख माँगने और गंगा में डूबने तक के कटु अनुभव कर चुकी है, हृदय में जीवन की [illegible] छिपाये हुए है। जैसे कोई संजीवनी वटी पाकर वह फिर नवयुवती हो गई हो। उसमें एक ऐसी सजीवता, एक ऐसी सप्राणता है जिसे संसार की मुसीबतें बहुत कुचलने पर भी नहीं कुचल पाईं।

पढ़े-लिखे लोगों में नृत्य वर्जित है, खासकर स्त्री-पुरुषों का एक साथ नाचना। प्रेमचन्द ने इस नृत्य-हीन सभ्यता की जन-संस्कृति से तुलना की है। उन्हें वहाँ श्री सुमित्रानन्दन पन्त की तरह हुड़दंग और अश्लीलता नहीं दिखाई देती। प्रेमचन्द जन-साधारण के कला-प्रेम की दाद देते हैं। "युवक और युवतियों के जोड़े बँधे हुए हैं। हर एक जोड़ा दस-पन्द्रह मिनट तक थिरक-कर चला जाता है। नाचने में कितना उन्माद, कितना आनन्द है, अमर ने समझा था।" उसकी इच्छा होती है कि उसे नाचना आता तो वह भी सबके साथ नाचने लगता। लेकिन ज्यों ही वह मुन्नी को देखता है, नाच के लिए उसका सारा उत्साह हवा हो जाता है। उसमें इतना साहस नहीं है कि वह मुन्नी को स्वीकार करके गृहस्थी चलाये, न वह यह सहन कर सकता है कि मुन्नी दूसरों के सामने नाचे। ऐसी ही कायरता उसने सकीना के बारे में भी दिखाई थी। उससे प्रेम-निवेदन करता है लेकिन जब वह सामाजिक बन्धनों को तोड़कर उसके साथ चलने को तैयार होती है, वह भाग खड़ा होता है। वह खुल्लम-खुल्ला अपनी पत्नी से सारी बातें भी नहीं कहता। वह उन पुरुषों में से है जो अपने लिए पत्नी के अलावा दूसरी स्त्रियों से प्रेम करने की छूट चाहते हैं, लेकिन ऐसे अधिकारवादी हैं कि पत्नी ही नहीं, प्रेमिकाओं को भी किसी से हँसने-बोलने का अधिकार भी नहीं देना चाहते। मुन्नी को रंगमंच पर आते देखकर इसीलिए उसे बुरा लगता है। लेकिन मुन्नी आत्म-विभोर होकर नाचती है, अमरकान्त के दुर्भाग्य से अकेले भी नहीं बल्कि

एक दूसरे युवक के साथ।

"युवक गठीला जवान है, चौड़ी छाती, उस पर सोने की मुहर, कछनी काछे हुए। युवती को देखकर अमर चौंक उठा। मुन्नी है। उसने घेरदार लहँगा पहना है, गुलाबी ओढ़नी ओढ़ी है, और पाँव में पैंजनियाँ बाँध ली हैं। गुलाबी घूँघट में दोनों कपोल दो फूलों की भाँति खिले हुए हैं। दोनों कभी हाथ-में-हाथ मिलाकर, कभी कमर पर हाथ रखकर, कभी कूल्हों को ताल से मटकाकर नाचने में उन्मत्त हो रहे हैं। अभी मुग्ध नेत्रों से इन कलाविदों की कला देख रहे हैं। क्या फुरती है, क्या लचक है! और उनकी एक-एक लचक में, एक-एक गति में, कितनी मार्मिकता, कितनी मादकता! दोनों हाथ में हाथ मिलाये, थिरकते हुए रंगभूमि के उस सिरे तक चले जाते हैं और क्या मजाल कि एक गति भी बेताल हो।"

प्रेमचन्द ने अपने शब्दों से पूरी तस्वीर खींच दी है। वह खुद एक कलाविद् की तरह उस दृश्य का आनन्द लेते हैं। वह दिखलाते हैं कि हिन्दुस्तान के इन मेहनत मजूरी करने वाले ग़रीबों में कितना रस है। वह उपन्यास में जिन पात्रों को लेकर कथा रचते हैं, उनके जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। वह जनता की आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयों का चित्रण ही नहीं करते, वह उसकी सजीव सांस्कृतिक परम्पराओं से सच्ची सहानुभूति भी रखते हैं और उसके नृत्य और संगीत में रस भी ले सकते हैं। ऐसी सहृदयता बहुत कम साहित्यकारों में देखने को मिलती है।

अमरकान्त नाचने और अभिनय करने में बिलकुल अनाड़ी न था। लेकिन उन धनी-मानियों की वह संस्कृति कुछ और थी, जन-साधारण की यह संस्कृति कुछ और थी। प्रेमचन्द दोनों का अन्तर बतलाते हुए लिखते हैं—"कालेज के सम्मेलनों मे अमर कई बार ड्रामा खेल चुका था। स्टेज पर नाचा भी था, गाया भी था, पर उस नाच और इस नाच में बड़ा अन्तर था। वह विलासियों की काम-क्रीड़ा थी, यह श्रमिकों की स्वच्छन्द केलि।" लेकिन अमरकान्त जिस वातावरण में पाला-पोसा गया है, उससे पैदा होने वाले संस्कार अब भी इतने प्रबल है कि वह विलासियों की काम-

क्रीड़ा में भाग ले सकता था लेकिन यह श्रमिकों की स्वच्छन्द केलि देखकर "उसका दिल सहमा जाता था।"

लेकिन इस तरह आनन्द के दिन उनके जीवन में कभी-कभी ही आते हैं वे बड़ी कठिनाई में दिन काटते हैं। अमरकान्त वहाँ शान्ति पाने के लिए पहुँचता है लेकिन वहाँ की गरीबी देखकर उसका दिल दहल जाता है। ये समाज के वे लोग हैं जिन्हें "ऊँची" जाति के लोग मनुष्य नहीं समझते, जो सैकड़ों, हजारों साल से सम्पत्तिशाली लोगों की गुलामी करते चले आए हैं, जो मुर्दा मांस पा जाते हैं, तो उसे ज़िन्दगी की सबसे बड़ी न्यामत समझते हैं। इनके इलाक़े के मालिक एक महन्त जी हैं जिनके ठाकुरद्वारे में कोई नित नया उत्सव होता रहता है। गाँव के असामियों को इन सब अवसरों पर बेगार करनी पड़ती थी। धर्म ने उनका मुँह बन्द कर रखा था। "धर्म संकट सबसे बड़ा संकट है। फिर इलाक़े के काश्तकार सभी नीच जातियों के लोग थे।" जो थोड़े-से ऊँची जाति के लोग थे, उनकी सहानुभूति महन्त जी के साथ थी। "असामियों को उन्हें भी प्रसन्न रखना पड़ता था।" यानी ये अछूत दुहरी-तिहरी गुलामी के नीचे पिस रहे थे। सबसे ऊपर अंग्रेज़ थे, उनके नीचे ज़मींदार महन्त जी और उनके नीचे ऊँची जाति के लोग।

इन अछूतों की दशा का मार्मिक चित्र, उनके जीवन की बुनियादी समस्याओं की झाँकी हिन्दी-कथा-साहित्य में हमें पहले 'कर्मभूमि' में मिलती है। प्रेमचन्द ने लिखा है—"बेचारे एक तो ग़रीब, ऋण के बोझ से दबे हुए, दूसरे मूर्ख, न क़ायदा जानें न कानून। महन्त जी जितना चाहें इजाफ़ा करें, जब चाहे बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अक्सर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँचती थी; किन्तु लोग भाग्य को रोकर, भूखे नंगे रहकर, कुत्तों की मौत मरकर, खेत जोतते जाते थे।"

लेकिन यह सन् '२९-'३० की मंदी का ज़माना था जब सोवियत संघ के अलावा तमाम दुनिया की आर्थिक व्यवस्था एक भारी संकट में

पड़ गई थी।

लाखों आदमियों का जन-संहार कराने के बाद उसका संकट हल न हुआ था बल्कि और गहरा हो गया था। इस संकट का भार पड़ा सबसे ज्यादा गाँव के गरीब किसानों पर। प्रेमचन्द ने संकट से किसानों की बढती हुई मुसीबतों का यथार्थ वर्णन इस तरह किया है—

"लेकिन इस साल अनायास ही जिंसों का भाव गिर गया। इतना गिर गया, जितना चालीस साल पहले था। जब भाव तेज़ था, किसान अपनी उपज बेच-बाचकर लगान देता था; लेकिन जब दो और तीन के जिंस एक में बिके, तो किसान क्या करे? कहाँ से लगान दे, कहाँ से दस्तूरियाँ दे, कहाँ से कर्ज़ चुकाये। विकट समस्या आ खड़ी हुई; और यह दशा कुछ इस इलाके की न थी। सारे प्रान्त, सारे देश, यहाँ तक कि सारे संसार में यही मंदी थी। चार सेर का गुड़ कोई दस सेर में भी नहीं पूछता। आठ सेर का गेहूँ डेढ़ रुपये मन में भी महंगा है। ३०) मन का कपास १०) में जाता है, १६) मन का सन ४) में। किसानों ने एक-एक दाना बेच डाला, भूसे का एक तिनका भी न रखा, लेकिन यह सब-कुछ करने पर भी चौथाई लगान से ज्यादा न अदा कर सके और ठाकुरद्वारे में वही उत्सव थे, वही जल-विहार थे। नतीजा यह हुआ कि हलके में हाहाकार मच गया।"

इस वर्णन से प्रेमचन्द के गंभीर चिंतन और अध्ययन का पता लगता है। वह संसार के आर्थिक संकट से, हिन्दुस्तान और अपने सूबे पर उसके प्रभाव से परिचित थे। उनमें वह वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हो रही थी जो घटनाओं की परस्पर संबद्धता देखकर अधिकार के साथ किसी घटना-क्रम का विवेचन करती है। इस दृष्टि के साथ प्रेमचन्द को यथार्थ का गहरा अनुभव भी प्राप्त था। इसलिए वह यथार्थ का शुष्क विवेचन नहीं करते, वह एक श्रेष्ठ कलाकार की तरह उसका मार्मिक चित्रण करते हैं।

इस मंदी में किसान कुत्तों की मौत मरने के लिए तैयार न थे। अमरकान्त और एक दूसरे नेता आत्मानंद की कोशिशों से उस इलाके में थोड़ा-बहुत विद्या का प्रचार हो चुका था। लोगों ने कुछ गाँवों में दस्तूरी देना

कर दिया था। आत्मानन्द के सभापतित्व में गंगा-किनारे सभा होती है। यहाँ पर दो तरह के नेतृत्वों की टक्कर होती है। अमरकान्त कहता है—"यह विपत्ति कुछ हमारे ही ऊपर नहीं पड़ी। सारे देश में यही हाहाकार मचा हुआ है। हमारे नेता इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा कर रहे हैं। उन्हीं के साथ हमें भी चलना है।"

प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण-कौशल देखते ही बनता है। अमरकान्त जैसे अपने पारिवारिक जीवन में [illegible] है वैसे ही राजनीति में भी। लेकिन जनता इस तरह के नेताओं से ऊबने लगी है। उसका लंबा भाषण सुनकर जनता उदासीन बैठी रहती है। "उसका सम्मान सभी करते थे, इसीलिए कोई ऊधम न हुआ, कोई बमचख न मचा; पर जनता पर कोई असर न हुआ।" ये शब्द जाहिर करते हैं कि जनता को अमरकान्त-जैसे नेताओं की जरूरत नहीं थी। वह उन्हें बर्दाश्त कर रही थी इसलिए कि व्यक्तिगत रूप से वह उनमें से कुछ का सम्मान करती थी। आत्मानन्द का कहना था कि महन्त का घर घेर लिया जाय और जब तक वह लगान न छोड़ दे तब तक उनका कोई उत्सव न होने दिया जाय। इन दोनों नेताओं के मतभेद की वजह से सभा में कोई फैसला न हुआ।

अमर महन्त जी से सन्धि-वार्ता करने जाता है। यहाँ उसे एक दूसरी दुनिया दिखाई देती है। "संध्या का समय था। महन्त जी एक सोने की कुरसी पर बैठे हुए थे, जिस पर मखमली गद्दा था। उनके इर्द-गिर्द भीड़ लगी हुई थी, जिसमें महिलाओं की संख्या ही अधिक थी। सभी धुले हुए संगमर्मर के फ़र्श पर बैठी हुई थीं। पुरुष दूसरी ओर बैठे थे। महन्त जी पूरे छः फीट के विशालकाय, सौम्य पुरुष थे। अवस्था कोई पैंतीस वर्ष की थी। गोरा रंग, दुहरी देह, तेजस्वी मूर्ति, काषाय वस्त्र तो थे; किन्तु रेशमी। वह पाँव लटकाये बैठे हुए थे। भक्त लोग जाकर उनके चरणों को आँखों से लगाते थे, पूजा चढ़ाते थे और अपनी जगह पर आ बैठते थे।"

अमरकान्त से कहा गया कि यह आरती का वक़्त है, इसलिए तीन घंटे बाद आय। इस बीच अमर इधर-उधर घूमता है तो देखता है—"कहीं

बड़ी-बड़ी कढ़ाइयों में पूरियाँ-कचौरियाँ बन रही हैं, कहीं भाँति-भाँति की शाक-भाजी चढ़ी हुई है, कहीं दूध उबल रहा है, कहीं मलाई निकाली जा रही है।" अगर महन्त जी किसानों का लगान माफ़ कर देते तो ये सब उत्सव कहाँ से होते ?

अमर के साथ अछूत गूदड़ भी गया है। उसने गोशाला और घुड़साल देखकर ही सन्तोष किया। जब आरती होने लगी तब सब लोग अन्दर दर्शन करने दौड़े। गूदड़ बोला—"अब देखो भगवान् की आरती हो रही है और हम भीतर नहीं जा सकते। यहाँ के पंडों-पुजारियों के चरित्र सुनो, तो दाँतों तले उँगली दबा लो; पर वे यहाँ के मालिक हैं, और हम भीतर कदम नहीं रख सकते।"

प्रेमचन्द ने जाति-प्रथा, धार्मिक अन्ध-विश्वासों और ज़मींदारी-प्रथा की बर्बरता को ऐसे उघाड़कर रख दिया था कि पुराण पंथी लोग तिलमिला उठे। वे कहने लगे—"प्रेमचन्द घृणा के प्रचारक हैं।" प्रेमचन्द जनता को सिखला रहे थे कि जब तक वह इस तरह की मानवता-विरोधी रीतियों को अपने यहाँ फलने-फूलने देगी, तब तक उसका सामाजिक और सांस्कृतिक विकास रुका रहेगा।

जब आरती समाप्त हुई, तब कोई रानी जी महन्त जी के दर्शन करने आई। अमर को फिर राह देखनी पड़ी। आध घंटे बाद कोशिश करने पर उससे सवेरे आने के लिए जवाब मिला। सवेरे अमर गया तो महन्त जी पूजा पर थे, फिर गया तो कलेऊ पर थे। उसे कारकुन से मिलकर ही सन्तोष करना पड़ा। कारकुन ने अर्ज़ी माँगी। अमर ने कहा कि वह महन्त जी से मिलने आया है। इस पर कारकुन ने पूछा—नज़राना लाये हो ? नज़राना भी कम-से-कम एक अशर्फी चाहिए था। अमरकान्त को निराश होकर वापस लौट आना पड़ा। उसके साथ जो सलूक हुआ था, वह मानो अछूत किसानों की सभा में उसके भाषण पर प्रेमचन्द की टिप्पणी थी। जनता का बल पीछे छोड़कर गये, महन्त जी की सहृदयता पर विश्वास जमाया, देखो क्या नतीजा निकला—मानो प्रेमचन्द कह रहे हों।

गाँव आकर उसे सच्ची बात कहने की हिम्मत न पड़ी। उसने झूठ बोला कि अर्ज़ी दे आया है और उस पर विचार हो रहा है! अमरकान्त सत्य और अहिंसा में विश्वास करता था। इसलिए जनता से झूठ बोलने में उसे कोई बुराई मालूम न हुई।

अमर कारकुनों, मुहर्रिरों और चपरासियों तक की खुशामद करने लगा। लेकिन उसकी अर्ज़ी पर विचार नहीं हो रहा था। गाँव के लोग उसका मज़ाक बनाने लगे। कोई कहता—रुपये में आठ आना छूट हो गई है। कोई कहता—महन्त जी ने इस साल पूरा लगान माफ़ कर दिया है। लेकिन किसानों के नेता चुपचाप नहीं बैठे थे। यह वह ज़माना था जब राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस से अलग यहाँ के किसान-मजदूर अपने अलग संगठन बनाने लगे थे। "रोज़ बड़ी-बड़ी किसान-सभाओं की खबरें आती थीं। जगह-जगह किसान-सभाएँ बन रही थीं।" 'प्रेमाश्रम' के दिनों से कितना अन्तर हो गया था। लखनपुर के किसान अब अकेले नहीं थे। उनके साथ तमाम इलाके के किसान अपने संगठनों के अन्दर अपना एका मज़बूत कर रहे थे।

सात दिन के बाद अमर महन्त जी के दर्शन कर पाता है। सरकार से जल्द पत्र-व्यवहार करने और कारिंदों द्वारा सख्ती न किये जाने का आश्वासन पाकर वह खुश-खुश लौट आता है। वह महन्त का पक्ष लेकर किसानों को समझाता है—"महन्त जी को तुम लोग व्यर्थ बदनाम कर रहे थे। ऐसी सज्जनता से मिले कि मैं क्या कहूँ।" अगर किसानों ने अर्ज़ी-फ़रियाद का रास्ता छोड़कर और कोई रास्ता अपनाया तो उसके परिणाम से उन्हें आतंकित करने की कोशिश करता हुआ वह कहता है—"हुल्लड़ मचाओगे, तो कुछ न होगा, उल्टे और डंडे पड़ेंगे।"

दो हफ़्ते हो गए लेकिन कोई हुक्म न आया। अमर अपने दोस्त सलीम के साथ हाकिम-ज़िला गज़नवी से मिला। वहाँ से उसे आश्वासन मिला—"भला छः महीने तो गुज़रने दीजिये। अभी हम काश्तकारों की हालत को जाँच करेंगे, उसकी रिपोर्ट भेजी जायगी, रिपोर्ट पर गौर किया जायगा, तब कहीं कोई हुक्म निकलेगा।"

गज़नवी साहब अमर को यह नेक सलाह और देते हैं—"मि. सलीम आपकी बड़ी तारीफ करते हैं, मगर भाई, मैं तुम लोगों से डरता हूँ। खासकर तुम्हारे उस स्वामी से। बड़ा ही मुफ़सिद आदमी है। उसे फँसा क्यों नहीं देते। मैंने सुना है, वह तुम्हें बदनाम करता फिरता है।"

इस सलाह को सुनकर अमरकान्त को गुस्सा नहीं आता। प्रेमचन्द अमरकान्त के आन्तरिक विचारों का धरातल प्रकट करते हुए लिखते हैं—"इतना बड़ा अफ़सर अमर से इतनी बेतकल्लुफ़ी से बातें कर रहा था, फिर उसे क्यों न नशा हो जाता। सचमुच आत्मानन्द आग लगा रहा है। अगर वह गिरफ़्तार हो जाय, तो इलाके में शान्ति हो जाय। स्वामी साहसी है, यथार्थ वक्ता है, देश का सच्चा सेवक है, लेकिन इस वक्त उसका गिरफ़्तार हो जाना ही अच्छा है।"

यहाँ पर अमरकान्त ने 'ग़बन' के रमानाथ को भी मात कर दिया। रमानाथ राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं था। शतरंज और सिनेमा का शौकीन था। पुलिस के चंगुल में फँसकर उसने मुख़बिरी की थी। लेकिन अमरकान्त राजनीतिक कार्यकर्ता है। वह क्रांति का समर्थक रह चुका है। ("विद्यालय में एक बार 'धर्म' पर विवाद हुआ। अमर ने उस अवसर पर जो भाषण किया, उसने सारे शहर में धूम मचा दी। वह अब क्रांति ही में देश का उद्धार समझता था—ऐसी क्रांति में, जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांत का परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्यों देवताओं को तोड़-फोड़कर चकना-चूर कर दे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे। उस के एक-एक अणु से 'क्रांति! क्रांति!' की सदा निकलती रहती थी, लेकिन उदार हिंदू-समाज उस वक्त तक किसी से नहीं बोलता, जब तक उसके लोकाचार पर खुल्लम-खुल्ला आघात न हो। कोई क्रांति नहीं, क्रांति के बाबा का ही उपदेश क्यों न करे, उसे परवाह नहीं होती, लेकिन उपदेश की सीमा के बाहर, व्यवहार-क्षेत्र में किसी ने पाँव निकाला और

समाज ने उसकी गर्दन पकड़ी ।") ।

यह व्यापक क्रांति का समर्थक असल में हमेशा समझौता करता है । सकीना के मामले में वह हमेशा दोहरा विश्वास-घात करता है—एक तरफ अपनी स्त्री से, जो माँ बन चुकी है, दूसरी तरफ सकीना से, जो उसकी प्रेमिका है। इस बार किसानों के मामले में भी वह दोहरी दग़ा करता है; एक तरफ तो आत्मानन्द से, जिन्हें वह फँसाने का निश्चय कर लेता है; दूसरी तरफ किसानों से, जिनके सामने वह स्वच्छ देश-भक्त बना रहता है ।

'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर से उसका चरित्र ज्यादा पेचीदा है । ज्ञानशंकर ने इशारों से दोस्तों को फँसाने का और अपने अन्तःकरण को सुरक्षित रखने में वह कमाल हासिल न किया था जो अमर ने किया है । वह चाहता है कि गज़नवी समझ भी ले कि वह चाहता है कि आत्मानन्द को गिरफ़्तार कर लिया जाय, साथ ही उसे मुँह से कुछ कहना भी न पड़े। प्रेमचन्द ने उसकी इस नाज़ुकबयानी के बारे में लिखा है—"उसने कुछ इस भाव से जवाब दिया कि उसके मनोभाव प्रकट न हों पर स्वामी पर वार चल जाय—मुझे तो उनसे कोई शिकायत नहीं है, उन्हें अख़्तियार है, मुझे जितना चाहें बदनाम करें ।"

कितने निर्दोष शब्द थे ! बेचारा दूसरों की बदनामी सहने के लिए तैयार था, खुद किसी के खिलाफ एक शब्द भी कहना न चाहता था। लेकिन गज़नवी उसका मतलब अच्छी तरह समझ गया—"तुम नोट कर लो मि० सलीम ! कल उसके हल्के के थानेदार को लिख दो, इस स्वामी की खबर ले। बस अब सरकारी काम खत्म। मैंने सुना है मि० अमर, कि आप औरतों को वश में करने का कोई मंत्र जानते हैं।" और फिर देर तक उनमें औरतों के बारे में चर्चा होती रहती है। प्रेमचन्द की कला में व्यंग्य की ऐसी बारीकियाँ मिलेंगी जो मानो पाठक को झकझोरकर कह रही हों, देखो क्रांतिकारी जी को, आत्मानन्द को सच्चा देश-भक्त मानते हुए भी कैसे उसे फँसा दिया और उसके बाद किस बेहयाई से हाकिमों के साथ औरतों की चर्चा करते रहे ।

गाँव आकर अमर सरकारी तहकीकात का भरोसा दिलाकर गाँव-वालों से खरीफ़ का काम शुरू करने को कहता है। आत्मानन्द अकेले पड़कर अमरकान्त की चालों को समझे बिना उससे समझौता कर लेते है। महन्त जी ने चार आने की छूट दे दी, लेकिन बकाया वसूल करने में असामियों के साथ सख़्ती की गई। फिर किसानों ने सभा की। आत्मानन्द ने सरकारी छूट का आश्वासन दिलाया। तभी अमरकान्त को अपनी पत्नी की गिरफ़्तारी का समाचार मिला। उसे पता न रहा कि क्या कर रहा है। धुआँधार व्याख्यान दिया और लोगों से लगान बिलकुल न देने की अपील की। सभा की रिपोर्ट सुनकर गज़नवी ने आत्मानन्द और अमरकान्त को गिरफ़्तार करने का हुक्म दिया और सलीम से बोला—"मैं इनके नेक इरादों की कद्र करता हूँ, लेकिन हम और वह दो कैम्पों में हैं। स्वराज हम भी चाहते हैं; मगर इन्क़लाब की सूरत में नहीं।"

आत्मानन्द अमर से कहते हैं कि बेदखली होने पर बहुत से किसान साथ न देंगे। इस पर गरम होकर अमर कहता है—"इसका अर्थ यह है कि आप इस आन्दोलन के नायक बनने योग्य नहीं हैं। नेता के आत्मविश्वास और साहस और धैर्य, ये मुख्य लक्षण हैं।" लेकिन जब सलीम से मुलाकात होती है—और सलीम एक सरकारी अफ़सर है—तब अमर अपने भाषण की सारी ज़िम्मेदारी आत्मानन्द पर डालते हुए कहता है—"महन्त जी ने मजबूर कर दया। क्या करता।" सलीम उसे मोटर पर बिठाकर ले चलता है और उसे बतला देता है कि पुलिस के हाथों वह जलील न हो, इसलिए उसने ऐसा किया है। रास्ते में मुन्नी मिलती है लेकिन अमर उससे असली बात नहीं कहता, शायद इस डर से कि लोगों को पता चल गया तो सलीम और उसकी मोटर की ख़ैर न होगी।

लेकिन मुन्नी से यह छिपा नहीं रहता कि अमर गिरफ़्तार होकर जा रहा है। वह शोर मचाती हुई सारे गाँव को इकट्ठा कर लेती है। पगडंडियों से भागते हुए लोग मोटर की राह रोककर खड़े हो जाते हैं। अमर मोटर से सिर निकालकर 'बहनो और भाइयो' कहता हुआ उप-

देशों और आशीर्वादों की एक बौछार करता है। अमर उन्हें मोटर को निकल जाने देने के लिए कहता है। लेकिन मुन्नी ललकारकर कहती है, "उतार लो मोटर से", लेकिन जब कोई आगे नहीं बढ़ता तब मानो भविष्य देखती हुई वह कहती है—"जब पुलिस और फ़ौज इलाके को खून से रँग देगी तभी···" वह अंग्रेज़ी राज के खूनी आतंक को अच्छी तरह जानती है। लेकिन अमर उसे फटकारता है, अपने मुँह पर कालिख लगाये जाने की बात कहता है। फिर भी मुन्नी के कहने से जब लोग आगे बढ़ते हैं तब वह उन्हें फिर फटकारता है, धर्मयुद्ध, त्याग, बलिदान और सत्य की दुहाई देकर उन्हें रास्ते से हटा देता है।

इलाके पर फ़ौजी कानून लागू कर दिया गया। सारे इलाके को पुलिस ने घेर लिया। पाँच आदमी से ज्यादा कहीं इकट्ठे नह हो सकते थे, शाम को आठ बजे के बाद घर से कोई निकल न सकता था। पुलिस को बताये बिना कोई घर में मेहमान भी न ठहरा सकता था। प्रेमचन्द ने खूनी आतङ्क का हृदय-विदारक चित्र खींचते हुए लिखा है—"कितने ही घर जला दिए गए थे और उनके रहने वाले हबूड़ों की भाँति वृक्षों के नीचे बाल-बच्चों को लिए हुए पड़े हुए थे। पाठशाला में भी आग लगा दी गई थी और उसकी आधी-आधी काली दीवारें मानो केश खोले मातम कर रही थीं। स्वामी आत्मानन्द बाँस की छतरी लगाये अब भी वहाँ डटे हुए थे। जरा-सा मौक़ा पाते ही इधर-उधर से दस-बीस आदमी आकर जमा हो जाते; पर सवारों को देखा और ग़ायब।" मुन्नी ने जो कुछ कहा था, सब हो गया, जब अमर के पिता समरकान्त उस गाँव पहुँचे तब मुन्नी को भी जेल भेज दिया गया था। पुलिस के अत्याचारों का एक नमूना यह देखा—"सलोनी की सारी देह सूज उठी है और साड़ी पर लहू के दाग सूखकर कत्थई हो गए हैं। मुँह सूजा हुआ है। इस मुरदे पर इतना क्रोध!" समरकान्त बड़े पूजा-पाठ करने वाले आदमी थे, लेकिन सलोनी की दशा देखकर अपना "सारा धर्मज्ञान उन्हें पाखंड-सा प्रतीत हुआ।"

समरकान्त जब सलीम के साथ फिर गाँव में आता है तो सलोनी उसे

धक्का देकर उसकी गरदन पकड़ लेती है, लेकिन समरकान्त हाकिम के अप-मान का तीव्र विरोध करते हैं और सलोनी मन में कहती है—"यह लाला भी ठकुरसुहाती करते हैं। लड़का पकड़ा गया है न, इसी से।" आखिर समरकान्त गाँव वालों को समझा-बुझाकर आत्मानन्द को मुँहतोड़ जवाब देकर और खुद और "जंट साहब" के दवा-दारू के लिए रुपये इकट्ठे करके वहाँ से चल देते हैं।

मरहम-पट्टी करने के बाद फिर दमन-चक्र चलता है, और भी तेज़ी से। आत्मानन्द बदहवास होकर सलीम को कई आदमियों के मारे जाने की खबर देते हैं और उसका रिवाल्वर लेकर आततायियों का मुकाबला करना चाहते हैं। हत्या और बलात्कार को खुली छूट मिली हुई थी। जब सलीम अहिराने पहुँचा तब उसने देखा—"रास्ते में सभी द्वार बन्द थे। कुत्ते भी कहीं भागकर जा छिपे थे। यकायक एक घर का द्वार झोंके के साथ खुला और एक युवती सिर खोले, अस्त-व्यस्त, कपड़े खून से तर, भयातुर हिरनी-सी आकर उसके पैरों से चिपट गई और सहमी हुई आँखों से द्वार की ओर ताकती हुई बोली—"मालिक, यह सब सिपाही मुझे मारे डालते हैं।" यह युवती अनेक आततायियों से घिरकर दो-को मारकर सलीम की शरण आई थी। तभी दो बन्दूकधारियों ने घर से निकलकर उसके बाल पकड़ लिए और दरवाज़े की तरफ घसीटने लगे। इस पर सिपाहियों ने अपने अफसर घोष से फरियाद की। घोष ने पहले बहस की, फिर तैश में सलीम पर हंटर चला दिया। सलीम ने घोष की टाँग पकड़कर घसीट लिया और घूँसे से बेहोश कर दिया। इस पर सिपाहियों ने सलीम को पकड़ लिया।

"अँधेरा हो गया था। आतंक ने सारे गाँव को पिशाच की भाँति छाप लिया था। लोग शोक से मौन, और आतंक के भार से दबे, मरने वालों की लाशें उठा रहे थे। किसी के मुँह से रोने की आवाज़ न निकलती थी। ज़ख्म ताज़ा था इसलिए टीस न थी। रोना पराजय का लक्षण है। इन प्राणियों को विजय का गर्व था। रोकर अपनी दीनता प्रकट न करना चाहते

थे। बच्चे भी जैसे रोना भूल गए थे।"

रात को चार अर्थियाँ गंगा की तरफ़ चलीं और उनके आगे सलोनी गाती हुई जा रही थी। उपन्यास की मुख्य कथा यहाँ समाप्त हो जाती है।

उधर शहर में सत्याग्रह हुआ है, हड़ताल हुई है, अमरकान्त की बहन नना शहीद हुई, अछूतों ने मन्दिर-प्रवेश किया और प्रेमचन्द के अनुसार उस दिन पुजारी को दक्षिणा में सबसे ज़्यादा पैसे मिले।

'कर्मभूमि' प्रेमचन्द का यथार्थवाद और बुलंदी पर पहुँचा है। अमरकान्त के चरित्र में उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अद्भुत परिचय दिया है। मुन्नी उनकी वीर नारियों में सिरमौर है। मुन्नी और नारी पात्रों के चित्रण में आम तौर से प्रेमचन्द ने एक महान् कलाकार की सहृदयता का परिचय दिया है। सुखदा और नैना के त्याग और सच्ची देश-भक्ति के सामने अमरकान्त और समरकान्त क्षुद्र मालूम पड़ते हैं। सलोनी और उसके गाँव वाले पाठक भी सारी करुणा, सारी सहानुभूति अपनी तरफ़ खींच लेते हैं। वह सोचता रह जाता है—इनकी तकलीफ़ों का कैसे अन्त हो? कौन सा रास्ता है जिससे आतंक से इनकी रक्षा होगी? प्रेमचन्द उसे यह सोचने पर विवश करते हैं, यह उनकी ज़बरदस्त सफलता है।

७

'गोदान'

बम्बई से प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र जी को एक पत्र में लिखा था—"कर्ज़दार हो गया था, कर्ज़ पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।

(हंस, मई १९३९ पृष्ठ ९००)।

प्रेमचन्द ने जब 'गोदान' लिखा था, तब वह खुद भी क़र्ज़ में थे। "गोदान की मूल समस्या ऋण की समस्या है। इस उपन्यास में किसानों के साथ मानो वह आपबीती भी कह रहे हों। किसानों के जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर वह उपन्यास लिख चुके थे—'प्रेमाश्रम' में बेदखली और इज़ाफ़ा लगान पर, 'कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट और किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई पर—लेकिन क़र्ज़ की समस्या पर उन्होंने विस्तार से कोई उपन्यास न लिखा था।' 'गोदान' लिखकर उन्होंने किसान की उस समस्या पर प्रकाश डाला जो आये दिन उनके जीवन को सबसे ज़्यादा स्पर्श करती है।

'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' के साथ 'गोदान' हिंदुस्तानी किसानों के जीवन की बृहत्त्रयी समाप्त करता है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' तब लिखा था जब वह बम्बई के फ़िल्म-संसार को अच्छी तरह देख चुके थे, जब सिनेमा पर पूँजीपतियों के अधिकार ने उन्हें लेखक की पराधीनता का कड़वा अनुभव चखा दिया था, जब वह पुराने अड्डे पर आ बैठने के लिए व्याकुल हो रहे थे।

'गोदान' का संसार और बम्बई का फ़िल्म-संसार दो बिलकुल अलग-अलग और दूर-दूर की चीज़ थीं। दोनों को देखकर अचानक यक़ीन

भी न होगा कि वह एक ही देश के दो छोर हैं। इसी बम्बई में रहते हुए वह 'गोदान' लिखने में मन न लगा पाते थे। वहाँ की आबहवा ही दूसरी थी।

इसलिए प्रेमचन्द ने 'गोदान' में गाँवों की प्रकृति, वहाँ के किसानों और उनके जीवन के बारे में ऐसे प्रेम से लिखा है मानो ये अब बिछुड़ने वाले हों और वह अब इन्हें बार-बार न देख पायँगे। 'गोदान' के वर्णन और चित्रण में एक अपूर्व आत्मीयता और तल्लीनता है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी कम मिलती है।

इसके साथ ही मुनाफ़े की दुनिया और मेहनत की दुनिया के बीच की खाई उन्हें और गहरी होती दिखाई दे रही थी। उन्होंने 'प्रेमाश्रम', 'कर्म-भूमि' वग़ैरह में दो संस्कृतियों का भेद बहुत साफ़-साफ़ ज़ाहिर किया था। 'गोदान' में भी वह भेद उन्होंने प्रकट किया है, पहले से भी ज़्यादा कौशल से। एक तरफ़ ज़मींदार राय साहब, मिल मालिक खन्ना, बीच के लोग मालती और मेहता की दुनिया है; दूसरी तरफ़ होरी, धनिया, गोबर, सोभा, हीरा वग़ैरह की दुनिया है। एक के बिना दूसरी का अस्तित्व संभव नहीं है, यानी अपने वर्तमान रूप में। इसलिए प्रेमचन्द इन दोनों संसारों के चित्र खींचते हैं। इस चित्रण में जहाँ होरी और उसके भाईबन्दों के लिए उनकी सहृदयता और गहरी हो गई है, वहाँ राय साहब खन्ना-सम्प्रदाय के लिए उन्होंने अपना व्यंग्य और भी पैना और भी मर्म पर चोट करने वाला बना लिया है।

'गोदान' की रचना-शैली 'रंगभूमि' से किसी हद तक मिलती-जुलती है। यहाँ उन्होंने बहुत से किसान-पात्रों को उभारकर रखने के बदले होरी पर ध्यान केंद्रित किया है। वह उन तमाम ग़रीब किसानों की विशे-षताएँ लिये हुए है जो ज़मींदारों और महाजनों की धीमे-धीमे लेकिन बिना रुके हुए चलने वाली चक्की में पिसा करते हैं। 'गोदान' की गति धीमी है, होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का वेग नहीं है, लहरों के थपेड़े नहीं हैं। यहाँ ऊपर से शांत दिखने वाली नदी की भँवरें हैं जो भीतर-

ही-भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती है और दूसरों को वह तभी दिखाई देता है जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे।

होरी अकेला है जैसा प्रेमचन्द का किसान कभी अकेला नहीं रहा। 'प्रेमाश्रम' में लखनपुर के साथ दूसरे गाँव नहीं हैं, लेकिन यह गाँव इकट्ठा होकर चट्टान की तरह प्लेग और आगज़नी, दमन और बलात्कार का मुक़ाबला करता है। लेकिन यहाँ होरी का साथ देने वाले दूसरे गाँवों के लोग तो दूर रहे, उसके गाँव के लोग भी ज़बानी जमा-खर्च के अलावा उसकी कोई मदद नहीं करते। होरी का अन्त देखकर बरबस निर्मला की याद हो आती है, जिसका प्राण-पक्षी "दिन-भर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पंजों और वायु के प्रचंड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।"

तब क्या प्रेमचन्द पीछे की तरफ़ लौट रहे थे ?

'गोदान' में किसानों के शोषण का रूप ही दूसरा है। यहाँ पर सीधे-सीधे रायसाहब के कारिन्दे होरी का घर लूटने नहीं पहुँचते। लेकिन उसका घर लुट ज़रूर जाता है। यहाँ पर अंग्रेज़ी राज के कचहरी-क़ानून सीधे-सीधे उसकी ज़मीन छीनने नहीं पहुँचते। लेकिन ज़मीन छिन ज़रूर जाती है। होरी के विरोधी बड़े सतर्क हैं। वे ऐसा काम करने में झिझकते हैं जिससे होरी दस-पाँच को इकट्ठा करके उनका मुक़ाबला करने को तैयार हो जाय। वह उनके चंगुल में फँसकर तिल-तिलकर मरता है लेकिन समझ नहीं पाता कि यह सब क्यों हो रहा है। वह तक़दीर को दोष देकर रह जाता है; समझता है, यह सब भाग्य का खेल है, मनुष्य का इसमें कोई बस नहीं।

होरी अकेला है तो इसकी ज़िम्मेदारी ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है। उस समय तक किसान को कर्ज़ के बोझ से हल्का करने की समस्या किसान-आन्दोलन का मुख्य अंग न बन पाई थी। स्वाधीनता-आन्दोलन का अर्थ अंग्रेज़ के झंडे को हिंदुस्तान के बाहर करना समझा जाता था। प्रेमचन्द चाहते थे, अंग्रेज़ का झंडा बाहर जाय; लेकिन जिस विलायती मशीन के नीचे किसान पिस रहा है, वह मशीन भी बाहर जाय। इसीलिए

'प्रेमाश्रम' से लेकर 'गोदान' तक उनकी कोशिश यही रही थी कि इस मशीन के तौर-तरीकों को जनता के सामने ज़ाहिर करें जिससे कि झंडे के साथ वह विलायती शोषण की जड़ भी हिंदुस्तान से उखाड़ फेंके।

प्रेमचन्द समाज के प्रवाह को बहुत गहराई से देखते थे। उस ज़माने में, जब स्वराज का मतलब अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्दर ही रहना था, प्रेमचन्द ने लगानबन्दी को स्वाधीनता-आन्दोलन की रीढ़ बतलाया था। उस समय, जब लोग कर्ज़ की समस्या को किसान-आन्दोलन की एक बुनियादी समस्या न समझते थे, प्रेमचन्द ने उस पर तेज़ रोशनी डाली थी। वह बराबर कोशिश कर रहे थे कि आज़ादी का आन्दोलन किसानों की बुनियादी समस्याओं को अपने अन्दर समेट ले, वह अंग्रेज़ी राज के शोषण-चक्र पर वार्निश करने के बदले उसे जड़ से खोदकर फेंक दे।

इस मशीन को तेल पिलाने वालों में सेमरी के रायसाहब मुख्य हैं किसानों की अंटी से पैसा निकालने के लिए इन्होंने जो दाव-पेंच ईजाद किये हैं, उन्हें देखते हुए ज्ञानशंकर, राय कमलानन्द, राजा विशालसिंह अबोध बच्चे मालूम होते हैं। ज्ञानशंकर एक भयंकर खल पात्र है, लेकिन 'गोदान' के राय साहब को खल कौन कहेगा? सत्याग्रह-संग्राम में बहुत यश कमा चुके हैं। कौंसिल की मेंबरी तक छोड़ दी थी और जेल चले गए थे। इलाक़े के असामी उन पर घोर श्रद्धा करने लगे थे। तब क्या इनके इलाक़े के किसानों का जीवन दूसरी जगह के किसानों से कुछ दूसरी तरह का था? नहीं, प्रेमचन्द लिखते हैं—

"यह नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रियायत न की जाती हो, या डाँड और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लग सकता था।....सिंह का काम तो शिकार करना है, अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता है, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में उसे जंगल में न भटकना पड़ता।"

राय साहब उन हिंसक पशुओं में से हैं जो गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोलना सीख गए हैं। शिकार तो अपनी जान से हाथ धोता ही है लेकिन मीठी बोली सुनता हुआ, अपाहिज होकर, गरजने और गुर्राने से सावधान होकर उस जंगली पशु से लड़ता हुआ नहीं।

कुछ-कुछ इसी तरह का चरित्र 'कर्मभूमि' के महन्त जी का भी है। अमरकान्त से किसानों की दुःख-कथा सुनकर उनकी आँखों में आँसू आ जाते ह। भगवान् को स्मरण करके कहते हैं—"यह तुम्हारी क्या लीला है" लेकिन धर्म की चादर का रंग फीका पड़ने लगा था। गूदड़ भी, जो वड़ा श्रद्धालु है, महन्तजी के पडों के कारनामे अच्छी तरह जानता है। रायसाहब ने एक दूसरी चादर ओढ़ रखी थी, जो भक्तों पर और भी ज़्यादा असर डालती थी। यह चादर देश-भक्ति की थी।

सत्याग्रह-संग्राम में बड़ा यश कमाने के वाद भी रायसाहब और अंग्रेज़ी राज के सम्बन्धों में कोई अन्तर न पड़ा था। प्रेमचन्द ने लिखा है—"रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाये रखते थे। उनकी नज़रें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी-की-तैसी चली आती थीं।" यह ऐसा राष्ट्रवाद था, जो किसानों से भर-मुट्ठी रुपया भी वसूल करता था, अपने ऊपर उसके लिए बदनामी न आने देता था, अंग्रेज़ी राज से अपने सम्बन्ध भी बनाये रखता था।

होरी से मिलने पर रायसाहव पहले तो उसे पुष्प-वाटिका के सीन में माली बनकर सीताजी को गुलदस्ता भेंट करने का आदेश देते हैं (मानो सीता रायसाहब के ज़माने में बाग से सुसज्जित बंगले में रहने वाली मिस मालती हों!) और फिर मानो कोई भूली बात याद करके कहते हैं—"और देख, असामियों से ताकीद करके कह देना कि सब-के-सब शगुन करने आयें।"

इतने से ही होरी का पिंड नहीं छूट जाता। राय साहब असामियों से देर तक बातें करते हैं। उनका व्यवहार दूसरे अफ़सरों और रईसों-जसा नहीं है। मानो इस तरह वह जताना चाहते हों कि वह असामियों को

अपनी ही तरह मनुष्य समझते हैं। होरी से कहते हैं—"कारकुन को तो जो कुछ करना है वह करेगा ही; लेकिन असामी जितने मन से असामी की बात सुनता है, कारकुन की नहीं।"

। रायसाहब के मानववाद का यह रहस्य है। कारकुन को तो जो कुछ करना है वह करेगा ही, उन्हें ऐसे आदमी की ज़रूरत है जो कारकुन के काम के अलावा राय साहब का काम बना दे। दूसरे शब्दों में गरजने के बदले वह अपनी मीठी बोली होरी के ज़रिये किसानों तक पहुँचाना चाहते हैं। उनका दाँव यह है कि रुपये इकट्ठे करने के लिए किसानों के बीच में होरी उनका अपना आदमी बनकर काम साधे। वह कहते हैं—"हमें इन्हीं पाँच-सात दिनों में बीस हज़ार का प्रबन्ध करना है। कैसे होगा, समझ में नहीं आता। तुम सोचते होगे, मुझ टके के आदमी से मालिक क्यों अपना दुखड़ा ले बैठे। किससे अपने मन की कहूँ। न जाने क्यों तुम्हारे ऊपर विश्वास होता है।"

रायसाहब होरी से क्यों घुल-घलकर बातें करते हैं, क्यों उसे रामलीला में माली का पार्ट देते हैं, यह रहस्य रुपये इकट्ठे करने की बात से समझ में आ जाता ह। लेकिन उन्होंने "अपना दुखड़ा" रोने के लिए होरी को ही चुना, इसका भी कारण है। वह चरित्र के पारखी हैं और होरी की कमज़ोर नस को पहचानते हैं। उपन्यास के आरम्भ ही में होरी धनियाँ से कहता है—"तुझे रस पानी की पड़ी है, मुझे यह चिन्ता है कि अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी।" और—"यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं तो कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई, किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरों के पाँवों-तले अपनी गरदन दबी हुई है, तब उन के पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

होरी के चरित्र की यह कमज़ोरी है जिससे राय साहब फ़ायदा उठाते हैं। वह गाँव के किसानों मे फूट डालने में सफल हुए हैं। होरी के रक्षक का नकली पार्ट करके—इसलिए तलवे सहलाने से होरी तबाही से नहीं बच

पाता। वह गाँव के आदमियों को बेदखली, कुड़की वगैरह जीवन के सभी सुखों का अनुभव करा देते हैं।

रायसाहब होरी को समझाते हैं कि ज़मींदारों में वह एक-मात्र नेक आदमी हैं। चारों तरफ़ वह दुश्मनों से घिरे हुए हैं। उनकी परेशानियों की कोई सीमा नहीं है। होरी सहानुभूति से कहता है—"हम समझते थे कि ऐसी-ऐसी बातें हमीं लोगों में होती हैं, पर जान पड़ता है, बड़े आदमियों में भी उनकी कमी नहीं है।" इस तरह अपनी कल्पित परेशानियों की भूमि पर रायसाहब होरी से भाई-चारा क़ायम कर लेते हैं।

होरी जब घर पहुँचता है, तब धनियाँ सवाल करती है—"मालिक से क्या बातचीत हुई ?"

होरी जवाब देता है—"यही तहसील वसूली की बात थी और क्या ? हम लोग समझते हैं, बड़े आदमी बहुत सुखी होंगे, लेकिन सच पूछो तो वह हमसे भी ज्यादा दुखी हैं। हमें अपने पेट ही की चिन्ता है, उन्हें हजारों चिन्ताएँ घेरे रहती है।"

इस धारणा पर गोबर अपने व्यंग्य बाण बरसाता है। 'प्रेमाश्रम' के बलराज के लहजे में कहता है—"तो फिर अपना इलाक़ा हमें क्यों नहीं दे देते ! हम अपने खेत, हल, बैल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला ? यह सब धूर्तता है, निरी मोठमर्दी। जिसे दुःख होता है, वह दर्जनों मोटरें नही रखता, महलों में नही रहता. हलवा-पूरी नहीं खाता, और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज के सुख भोग रहे हैं; उस पर दुखी है !"

गोबर के तीक्ष्ण व्यंग्य और उसके अकाट्य तर्क से होरी झुंझला उठता है। वह जायदाद के मोह और किसान की मरजाद की बात करता है। फिर भगवान् की दुहाई देता है—"छोटे-बड़े भगवान् के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या ?" गोबर इसे मन समझाने की बात कहकर काट देता है। उसके लिए दुनिया

का अटल नियम यह है—"यहाँ जिसके हाथ लाठी है, वह ग़रीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।" तब होरी राय साहब के चार घंटे भगवान् के भजन की बात कहता है; लेकिन गोबर फिर उससे एक बड़े ही असमंजस का सवाल करता है—"किसके बल पर यह भजन-भाव और दान-धर्म होता है।" होरी जवाब देता है—"अपने बल पर।" लेकिन गोबर कहता है—"नहीं, किसानों के बल पर और मजदूरों के बल पर। यह पाप का धन पचे कैसे? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है.........एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जाय।" होरी हार जाता है और यही कहकर संतोष करता है— "अब तुम्हारे मुँह कौन लगे भाई, तुम तो भगवान् की लीला में भी टाँग अड़ाते हो।"

होरी और गोबर की बातचीत एक पिछड़े हुए किसान और अपने अधिकारों को पहचानने वाले आगे बढ़े हुए एक नये किसान की चेतना की टक्कर है। यह टक्कर दिखाकर प्रेमचन्द सूचित करते हैं कि राय साहब की मीठी बोली का असर सभी किसानों पर एक-सा नहीं पड़ता और नई पीढ़ी उनकी हकीकत पहचानने लगी है।

अमल का सवाल न हो तो राय साहब अत्यन्त प्रगतिशील विचारों के आदमी हैं। वह इंतज़ार कर रहे हैं कि कब सरकार उनके वर्ग की हस्ती मिटा दे। "मैं उस दिन का स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ।" वह यह भी कहते हैं कि ज़मींदारी-प्रथा के कारण हिंदुस्तान के लोग अपना विकास नहीं कर पाते और "जब तक सम्पत्ति की यह बेड़ी हमारे पैरों से न निकलेगी, जब तक यह अभिशाप हमारे सिर पर मँडराता रहेगा, हम मानवता का वह पद न पा सकेंगे, जिस पर पहुँचना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।"

राय साहब अभी नई गिलौरियों की बारूद मुँह में भर ही रहे थे कि चपरासी ने आकर सूचना दी कि बेगारों ने काम करना बन्द कर दिया है। देखिये अन्धेर कि वह खाने को माँगते हैं और धमकाये जाने पर उन्होंने काम भी छोड़ दिया है। राय साहब भला इस "अन्याय" को कैसे सहन करते? माथे पर बल पड़ जाते हैं। आँखें निकालकर कहते हैं—"चलो, मैं इन

दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया, तो आज यह नई बात क्यों? एक आने के रोज के हिसाब से मजदूरी मिलेगी जो हमेशा मिलती रही है, और इस मजदूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"

इसके बाद वह होरी को विदा कर देते हैं।

प्रेमचन्द ने उस समय, जब राय साहब का भाषण अपने क्लाइमैक्स पर था, बेगारों की चर्चा छेड़कर अपनी कथा-निर्माण की कुशलता और व्यंग्य की प्रखरता का परिचय दिया है। गोबर आगे चलकर जो-कुछ उनके बारे में कहता है, वह उनके जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

राय साहब का एक आलोचक और है—प्रोफेसर मेहता। यह क्वाँरा अध्यापक न मिस मेहता-जैसी लेडी डॉक्टरों को बख्शता है न राय साहब-जैसे रईसों को। वह उन बुद्धिजीवियों में से है जो जनता से प्रेम करते हैं उसके शोषकों से घृणा करते हैं लेकिन जिनकी सहानुभूति और घृणा ने अभी सक्रिय रूप नहीं लिया। गोबर की तरह वह भी राय साहब के मानव-वाद का पर्दा-फाश करते हुए कहता है—"मानता हूँ, आपका आपके असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें स्वार्थ है या नहीं। इसका एक कारण क्या यह नहीं हो सकता कि मद्धम आँच में भोजन स्वादिष्ट पकता है। गुड़ से मारने वाला ज़हर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है। मैं तो केवल इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं, तो बकना छोड़ दें।"

इस तरह गोबर और मेहता—दोनों पात्रों से राय साहब के बारे में एक ही निष्कर्ष निकलवाकर कि वह धूर्त है, प्रेमचन्द ने उसका दोहरा पर्दा-फाश किया है। इससे ज़ाहिर होता है कि वह राय साहब-जैसे धूर्तों से जनता को सचेत करना कितना महत्वपूर्ण काम समझते थे। राय साहब के शब्दों और व्यवहार के भेद पर प्रकाश डालकर प्रेमचन्द ने उस सभ्यता की आम कमज़ोरी की तरफ इशारा किया है जिसका आधार दूसरों की

मेहनत है। राय साहब होरी नहीं है कि दो-चार बातों में परास्त हो जायँ। अपने वातावरण, विकास की मंज़िलों और दूसरे के श्रम पर मोटे होने पर लानत भेजने के बारे में वह एक लम्बा व्याख्यान देते हैं जिससे मामूली आदमी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। लेकिन मेहता जी भी गोबर नहीं हैं—हालाँकि गोबर नाम से ही गोबर है, वैसे है काफी चतुर—और वह एक ही वाक्य में राय साहब के व्याख्यान की धज्जियाँ उड़ा देते हैं—"आपकी ज़बान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी भी मस्तिष्क में होती।"

मेहता का यह वाक्य—और राय साहब के साथ उनकी सारी बहस—ज़ाहिर करते हैं कि बुद्धिजीवी लोग भी राय साहब-जैसे रँगे सियारों की हकीकत पहचानने लगे हैं। मेहता किसानों के काफी नज़दीक पहुँचते हैं। उनसे उन्हें सच्ची सहानुभूति है। फिर भी दोनों एक होकर आगे बढ़ने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पाए। वे सब ताकतें मौजूद हैं जो राय साहब की धूर्तता, महाजनों के शोषण और इनके सरपरस्त विलायती साहबों के स्वार्थों से देश को मुक्त कर सकती हैं लेकिन एकता न होने से होरी बेचारा अकेला पड़ जाता है। 'गोदान' के बाद अगला कदम यही हो सकता है कि मेहता और होरी-जैसे लोग अपना एका मज़बूत करके राय साहब और उनके विलायती प्रभुओं के जाल को छिन्न-भिन्न कर दें। किंतु हिंदुस्तान का इतिहास अब यह कदम उठा रहा है यद्यपि उसे चित्रित करने के लिए आज प्रेमचन्द नहीं हैं।

जिस वर्ग में राय साहब-जैसे लोग पैदा हुए हैं, वह कितना निकम्मा है, यह दिखाने के लिए प्रेमचन्द ने मेहता को पठान बनाकर उन सबको डराया है। रामलीला की तैयारी के वक्त मेहता एक पठान का भेस धरकर बन्दूक लिये राय साहब, खन्ना, मिर्ज़ा साहेब वग़ैरह को अकेले घेर लेते हैं, लुट जाने का बहाना करते हैं और राय साहब से रुपया माँगते हैं। ऊपर से मालती के आशिक बनकर उसे उठा ले जाने की धमकी देते हैं।

किसी में यह हिम्मत नहीं होती कि पठान की बंदूक छीन ले। जब ये सब

पस्त हो चुकते हैं तभी होरी राय साहब को ढूंढ़ता हुआ उधर आ पहुँचता है और उठाकर मेहता को दे मारता है। मेहता की नकली दाढ़ी अलग हो जाती है और इस स्वाँग का कारण बताते हुए वह मालती से कहते हैं—"जरा इन भले आदमियों की जवाँमर्दी की परीक्षा ले रहा था।" जवाँमर्दी की परीक्षा में सिर्फ होरी पास होता है—खेत में कुदाल चलाने वाला किसान, और मानववाद पर लेक्चर झाड़ने वाले वे सब सज्जन फेल होते हैं। मालती को पहली बार पता चलता है कि उस पर मँडराने वाले पतंगे सच्ची लौ से कितने डरते हैं। उनमें से एक भी उसकी रक्षा करने के लिए हाथ नहीं बढ़ाता, भले ही वह पठान उसे उठा ले जाता। उसे मेहता से सहज स्नेह हो जाता है; कुछ-कुछ स्नेह तो उसे उस "पठान" से भी हो गया था। जो उसे उठा ले जाने की धमकी दे रहा था। सम्पादक तंखा का व्यवहार देखकर वह उनसे कहती है—"आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।" और—"जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं, तो अपने घर की स्त्रियों का अपमान भी देख सकते होंगे।"

मालती ने जो कुछ कहा था, उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं। इनके लिए वह विलास से ज्यादा और किसी उद्देश्य के लिए है भी नहीं। मेहता के अविवाहित रहने का एक कारण यह भी है कि उसे ऐसी स्त्रियाँ मिलती हैं जो स्वयं विलास का साधन बनने के अलावा और कुछ बनना भी नहीं चाहतीं।

राय साहब के दोस्तों में मिस्टर खन्ना हैं, एक बैंक के मैनेजर और शक्कर-मिल के मैनेजिंग डाइरेक्टर। खन्ना हिन्दुस्तान के उन पूंजीपतियों में से हैं जिनके कब्जे में बैंक हैं और जो इस बैंक-पूँजी के बल पर उद्योग-धन्धों पर कब्जा कर लेते हैं। जैसा कि प्रेमचन्द ने दिखलाया है, मिल में और भी हिस्सेदार हैं लेकिन वहाँ चलती है सिर्फ खन्ना की। एक बड़े जमींदार से उनकी दोस्ती आकस्मिक नहीं है। इस तरह के पूँजीपति सामन्ती हितों से बहुत नजदीकी सम्बन्ध कायम रखते हैं। खन्ना की नैतिकता ऐसी है कि वह मिस मालती के उपासक हैं। उनका सबसे बड़ा धर्म यह है कि किस तरह

ज़्यादा-से-ज़्यादा रुपया इकट्ठा करें। प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उनके चरित्र की विशेषता ज़ाहिर कर दी है। जब राय साहब वग़ैरह शिकार खेलने चले तब—"खन्ना ने शिकारी सूट डाटा था, जो शायद आज ही के लिए बनवाया गया था; क्योंकि खन्ना को असामियों के शिकार से इतनी फुरसत कहाँ थी कि जानवरों का शिकार करते।"

खन्ना के चरित्र पर इस वाक्य से ज्यादा प्रकाश प्रेमचन्द ने उनके बारे में और जो कुछ लिखा है, उससे नहीं पड़ता, फिर भी खन्ना-जैसी हस्तियों का निर्माण कैसे होता है, इस पर रोशनी ज़रूर पड़ती है। उनकी व्यंग्यपूर्ण शैली भी देखते ही बनती है—"दो बार जेल हो आए थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे।"

खन्ना उन्हीं देश-भक्तों के प्रतिनिधि हैं जिनकी देश-सेवा और विलायती शराबें पीने पर 'गबन' के देवीदीन ने अपने दिल के फफोले फोड़े थे। प्रेमचन्द को इन लोगों से कुछ विशेष प्रेम था; इसलिए वह 'ग़बन' से लेकर 'गोदान' तक उनकी तरफ अपने पाठकों का ध्यान बराबर आकर्षित करते रहे।

खन्ना जाते हैं शिकार खेलने, लेकिन राय साहब को शक्कर-मिल का हिस्सेदार बनाने के लिए बराबर जोड़-तोड़ मिलाते रहते हैं। राय साहब के पास रुपये नहीं हैं। खन्ना तरकीब बताते हैं। बैंक से रुपये उधार ले लीजिये। फिर खन्ना की बीमा-कम्पनी से पालिसी खरीद लें। रोजगार का रोज़गार, बाल-बच्चों की हिफाजत अलग से। फिर उन्हें सट्टेबाज़ी की भी सलाह देते हैं। खन्ना असामियों का शिकार आसानी से कर लेते हैं; तेंदुए का नाम सुनकर उन्हें अपने हवास कायम रखने में कठिनाई होती है। राय साहब को शिकार के वक्त कहना ही पड़ता है—"आप बड़े डरपोक हैं मिस्टर खन्ना, सच!" लेकिन मिस्टर खन्ना का दावा है—"मैं अहिंसावादी होना लज्जा की बात नहीं समझता।"

जब उनकी मिल में हड़ताल होती है, तो मजदूरों का यह काम उन्हें स्वाभाविक रूप से बेजा मालूम होता है। उन्हें इस बात पर शायद खास तौर

से एतराज़ है कि जब वह जनता के आदमी हैं, तब उनके साथ यह सलूक क्यों ?

प्रेमचन्द मिस्टर खन्ना के मनोभावों की छान-बीन करते हुए लिखते हैं–"मिस्टर खन्ना को मजूरों की यह हड़ताल बिलकुल बेजा मालूम होती थी। उन्होंने हमेशा जनता के साथ मिले रहने की कोशिश की थी। वह अपने को जनता का ही आदमी समझते थे। पिछले कौमी आन्दोलन में उन्होंने बड़ा जोश दिखाया था। ज़िले के प्रमुख नेता रहे थे, दो बार जेल गये थे।"

यद्यपि मिस्टर खन्ना अपने को जनता का आदमी मानते थे, लेकिन जनता शायद उन्हें अपना आदमी मानने से इन्कार कर रही थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। मज़दूरों के वेतन में कटौती का विरोध करते हुए मेहता ने उनसे कहा था:—"आपके मजूर बिलों में रहते हैं—गंदे बदबूदार बिलों में, जहाँ आप एक मिनट भी रह जायँ, तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायगा। मैंने उनके जीवन में भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारों का पेट भरना चाहते हैं।"

यही सबब है कि मज़दूर मिस्टर खन्ना को अब अपना आदमी नहीं समझते। उनकी हड़ताल नाकामयाब रहती है। लोगों की बेकारी से फ़ायदा उठाकर वह दूसरे आदमियों को भर्ती कर लेते हैं। मजदूर बहादुरी से लड़ते है लेकिन आखिर उन्हें हड़ताल वापस लेनी पड़ती है। एक तरफ मज़दूर लड़ते हैं खन्ना से; दूसरी तरफ किसान सामना करते है रायसाहब के कारिन्दों का। लेकिन जहाँ खन्ना और रायसाहब एक दूसरे के नज़दीकी दोस्त हैं और सट्टे और शक्कर के शेयरों की स्कीमें बनाते हैं, वहाँ किसानों और मज़दूरों को एक दूसरे का पता नहीं है। अपनी लड़ाइयाँ अलग-अलग चलाने की वजह से दोनों में से किसी की भी दशा नहीं सुधर पाती। उनके बीच की कड़ी मेहता हैं। वह मज़दूरों के जीवन में भाग ले चुके हैं और गाँव जाकर वहाँ के किसानों का हाल भी देखते हैं। एक तरफ से वह जनता में नई एकता के सूत्रधार बनने की तैयारी भी कर रहे हैं। मालती कहती है–"संसार में

अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्ध-विश्वास का, कपट-धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्त्त पुकार सुनी है। तुम भी न सुनोगे, तो सुनने वाले कहाँ से आयँगे। और असत्य प्राणियों की तरह तुम भी उसकी ओर से अपने कान बन्द नहीं कर सकते।"

मालती के इन शब्दों में प्रेमचन्द ने अपना सन्देश व्यक्त किया है। पढ़े-लिखे लोगों को अन्याय और अत्याचार से पीड़ित जनता का साथ देना चाहिए। सबके प्रयत्नों से ही भय, आतंक और अन्ध-विश्वासों का खात्मा हो सकता है। मेहता, अमरकान्त और रमानाथ के वर्ग ही में पैदा हुए हैं, लेकिन उनमें चरित्र की दृढ़ता है। उन्होंने मज़दूरों के जीवन में भाग लिया है—जैसा कि वह खन्ना से कहते हैं। यह बात न 'कर्मभूमि' के अमरकान्त में थी, न 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर में। वह स्वयं शारीरिक परिश्रम कर सकते हैं और दूसरों के परिश्रम की इज़्ज़त करते हैं। समाज की झूठी मान-मर्यादा की उन्हें ज़रा भी चिन्ता नहीं है। वह अपने तीखे विश्लेषण से रायसाहब और खन्ना-जैसे लोगों की कलई खोल देते हैं। एक जंगली लड़की की अतिथि-सेवा से प्रभावित होकर वह मालती को भी फटकार देते हैं। मालती के चरित्र में जो परिवर्तन होता है, वह मेहता के उद्योग से। वह नारी की इज़्ज़त करते हैं; मातृत्व का आदर करते हैं। इसलिए वह स्त्रियों को तितलियों की तरह जहाँ-तहाँ उड़ते देखना पसन्द नहीं करते। मालती में इन तितलियों के अवगुण मौजूद हैं। वह जब उन्हें दूर कर लेती है, तभी वह उसे अपनाते हैं। मालती में उन्हें विश्वास है कि वह बदलेगी। इसलिए वह धैर्य से उस दिन की राह देखा करते हैं जब मालती खुद उनसे कहती है—"अपनी विद्या और बुद्धि को, अपनी जागी हुई मानवता को और भी उत्साह और ज़ोर के साथ उसी रास्ते पर ले जाओ।"

मेहता के चरित्र में प्रेमचन्द दिखाना चाहते हैं कि उनकी निगाह में किस तरह के लोगों को जनता की सेवा के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए और कौन दरअसल उसकी सेवा कर सकते हैं। देश की उन्नति में उन्हें रायसाहब और खन्ना-जैसे लोगों की नकली देश-भक्ति एक बाधा की तरह दिखाई देती

थी इसीलिए उन्होंने तरह-तरह से बार-बार, खासकर मेहता के जरिये, ऐसे लोगों के चरित्र की वास्तविकता प्रकट कर दी है। मेहता बहुत अध्ययनशील व्यक्ति हैं। उनकी दर्शन-शास्त्र पर लिखी हुई पुस्तक का वर्णन पढ़कर यह याद हो आता है कि प्रेमचन्द को स्वयं दर्शन में प्रेम था और बी. ए. की परीक्षा के लिए वह उनका एक विषय भी था। जब मेहता गाँवों में किसानों की दशा देखते हुए घूमते हैं, तब प्रेमचन्द की अन्तिम आकांक्षा की याद हो आती है जो उन्होंने मृत्यु से तीन महीने पहले श्री उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखे हुए अपने एक पत्र में जाहिर की थी—"भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।" ('हंस', मई '३९, पृष्ठ ८१०)

'गोदान' के किसी एक पात्र को प्रेमचन्द का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, लेकिन अगर मेहता से होरी को जोड़ा जा सके तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत-कुछ प्रेमचन्द से मिलता-जुलता होगा। मेहता में यदि उन्होंने अपने विचार डाले हैं तो होरी में बराबर परिश्रम करते रहने की दृढ़ इच्छा-शक्ति। लेकिन और बातों में होरी प्रेमचन्द से बहुत भिन्न है।

मनोहर और बलराज की तरह वह एक सचेत किसान नहीं है। गाँव और कुनबे के बाहर उसकी नज़र नहीं गई। अपनी खेती और परिवार की देख-भाल ने उसे काफी स्वार्थी बना दिया। यह सोचकर वह खुश होता है कि दूसरों की बेदखली और कुड़की होती है, लेकिन मालिकों की खुशामद करने की वजह से वह बचा रहा है। उसमें वे तमाम अन्ध-विश्वास पाये जाते हैं जो अपने पुरखों से उसे विरासत के तौर पर मिले हैं। वह सिद्धान्तों में विश्वास तो करता है लेकिन मौका पड़ने पर उन्हें काट-छाँटकर समझौता करने को भी बुरा नहीं समझता। स्त्रियों के बारे में उसके विचार बिलकुल पिछड़े हुए हैं। धनिया उससे ज्यादा समझदार है। वह उसके भ्रातृ-प्रेम और मर्यादा के लिए सब-कुछ खो देने का विरोध करती है। होरी ने जिन लोगों को समाज में इज्जत पाते देखा है, उन्हीं की "मरजाद" की नकल खुद भी करना चाहता है। धनिया से उसकी नहीं बनती तो उसे पीटना भी

शुरू कर देता है। (मानो यह दिखाने के लिए कि पिछड़े हुए किसानों में औरत को पीटना आम बात है, प्रेमचन्द गोबर से कोदई की मुलाकात कराते हैं, जिसे स्त्री से दुर्व्यवहार करता देखकर गोबर उससे लड़ने को तैयार हो जाता है।)

होरी जायदाद को जीवन का आधार मानता है। वह अपनी ही नहीं रायसाहब को "जैजात" के बारे में दलीलें पेश कर सकता है। फिर भी उसकी सारी जायदाद छीन ली जाती है और वह कंकड़ खोदते हुए जान देता है। होरी उन किसानों का प्रतिनिधि है जिनकी ज़मीन उनके हाथ से निकलती जाती है और वे मज़दूरी करने के लिए मजबूर किये जाते हैं। लेकिन मज़दूरी ऐसी कि चार दिन ही में आदमी की हड्डियों को चूर कर दे। वही होरी, जिसने मेहता को उठाकर दे मारा था, लू खाकर मैदान में गिर पड़ता है।

उसकी इच्छाएँ साधारण हैं। एक गाय लेकर खेती-बाड़ी करता हुआ जीना चाहता है। लेकिन शहर के महाजन और पुरोहित उसकी यह साध भी पूरी नहीं होने देते। यही नहीं कि वह जो कमाता है, उनकी जेब में चला जाता है, उसे बाप-दादों से जो-कुछ मिला था, वह भी उन्हीं का हो जाता है।

वह अपने भाई को पुलिस के हाथों से बचाना चाहता है। गो-हत्या के लिए दूसरों के बदले उसे डाँड़ भरना पड़ता है। अस्सी रुपये में झिंगुरीसिंह के यहाँ उसे अपना घर गिरवी रखना पड़ता है। उसकी सारी-की-सारी फसल डाँड़ की भेंट हो जाती है। धीरे-धीरे उसके अन्ध-विश्वासों को इतनी ठोकरें लगती हैं कि वह भी मान-मर्यादा के विचार छोड़ने लगता है। ध्यानसिंह ठाकुर के यहाँ आरती लेने के लिए जाय तो कुछ थाली में डालने को ले जाय या खाली हाथ जाय, इस समस्या पर विचार करते-करते वह इस नतीजे पर पहुँचता है—"क्यों मर्यादा की गुलामी करे। मर्यादा के पीछे आरती का पुण्य क्यों छोड़े। लोग हँसेंगे, हँस लें। उसे परवा नहीं। भगवान् उसे कुकर्म से बचाये रक्खें, और वह कुछ नहीं चाहता।"

तीन बीघा ज़मीन की रक्षा के लिए वह जान लड़ा देता है लेकिन महाजनों के पंजों से उसकी रक्षा नहीं कर पाता। उस पर भी बेदखली का

दावा होना चाहता है। महाजन उसे कन्या बेचने के लिए मजबूर करके उसे अभय-दान देने के लिए तैयार हो जाता हैं। बड़े सोच-विचार के बाद होरी इसके लिए भी तैयार हो जाता है। "आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।"

लेकिन वह संघर्ष में पराजित नहीं हुआ। जब कंकड़ खोदने का काम शुरू करता है तब मानो एक नया जीवन शुरू कर रहा हो। हीरा से मिलकर उसे बेहद खुशी होती है। जिस दिन वह लू लगने से मरने को होता है, उसी दिन उसकी मानसिक दशा यह थी—"जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएँ हैं।" होरी का चरित्र भारत के अजेय किसान का चरित्र है। 'गोदान' उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है।

इसलिए प्रेमचन्द 'निर्मला' की तरफ पीछे न लौट रहे थे। वह आगे बढ़ रहे थे, उन किसानों को स्वाधीनता-आन्दोलन में आगे बढ़ने का आह्वान करते हुए, जो अब तक पिछड़े हुए थे। होरी के मुकाबले में गाँव के महाजन ऐसे कलुषित और नीच लगते हैं जैसे जोंक। इनमें मनुष्यत्व के प्रकाश का जैसे लोप हो गया है। वे केवल बूंद-बूंद करके होरी-जैसे मेहनतियों का खून पीना जानते हैं। होरी ज़बान से भी इनके अत्याचार का प्रतिकार नहीं करता, लेकिन सभी लोग उसकी तरह अन्याय सहने के लिए तैयार नहीं हैं। धनिया का चरित्र उससे काफी भिन्न है। वह मर्दों के बराबर काम करती है, इसके सिवा घर का काम देखती है। उसे दूसरों का वह लिहाज नहीं है जो होरी को है। वह अन्याय के विरुद्ध पाठक और लेखक की भावनाओं को व्यक्त करने का एक माध्यम है। ऊपर से कठोर है, लेकिन हृदय बहुत ही कोमल है। प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में वह अन्यतम है। उसके बराबर न और

कोई परिश्रम करने वाली है, न और किसी पर सरस्वती की ऐसी कृपा है। वह दातादीन को ऐसा डपटकर जवाब देती है जैसा कोई मजदूर-स्त्री ही दे सकती थी—"भीख माँगो तुम जो भिखमंगे की जात हो। हम तो मजूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायँगे।"

और होरी के लड़के गोबर में 'प्रेमाश्रम' के बलराज की-सी दृढ़ता न हो तब भी वह नये ज़माने की रोशनी देख चुका है। चाहे गाँव में खेती करे, चाहे शहर में मजदूरी, वह दूसरों का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। होरी के मरने के बाद गोबर मानो पिता के हत्यारों के लिए एक चुनौती की तरह जीवित रहता है, वह गोबर जिसने—"राजनैतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं और उनसे अंग-अंग में बिंधा है। उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफ़तों पर विजय पाना होगा।"

८

कहानियाँ

प्रेमचन्द ने उपन्यास लिखना पहले शुरू किया था, कहानियाँ उन्होंने बाद को लिखीं। यदि कहानीकार प्रेमचन्द और उपन्यासकार प्रेमचन्द में एक को ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जगह देने की बात हो तो शायद उपन्यासकार प्रेमचन्द को ही उस जगह के लिए चुना जायगा।

उनकी कहानियाँ, कला और विषय-वस्तु के लिहाज़ से, काफ़ी ऊँचे-नीचे स्तरों की हैं। यह बात उनके उपन्यासों के बारे में भी कही जा सकती है। फिर भी उनके अच्छे-से-अच्छे और घटिया-से-घटिया उपन्यासों के बीच इतना बड़ा फ़ासला न मिलेगा जितना उनकी बढ़िया और घटिया कहानियों के बीच मिलता है।

प्रेमचन्द की स्वाभाविक रुचि उपन्यास पढ़ने और लिखने की तरफ़ थी। बचपन से ही उन्होंने पुराणों और तिलस्मे होशरूबा-जैसे बृहदाकार ग्रन्थों का पारायण किया था। अंग्रेज़ी में उन्होंने न सिर्फ़ इंग्लैण्ड के डिकेंस और थैकरे-जैसे उपन्यासकारों को पढ़ा था, बल्कि उसके माध्यम से यूरोप के भी बहुत से उपन्यासकारों की रचनाएँ पढ़ डाली थीं, जिनमें तोल्स्तोय और गोर्की का उन पर खास प्रभाव पड़ा था। उपन्यास पढ़ना और एक बड़े पैमाने पर कहानी सोचना उनके संस्कारों में शामिल हो गया था। उपन्यासों में उन्हें रस आता था। यहाँ उनकी कल्पना आकाश में मुक्त विहग-जैसी अपने पंख फैलाकर उड़ सकती थी। कहानी की परिधि उन्हें अपनी प्रतिभा का पूरा करतब दिखाने से रोकती थी।

प्रेमचन्द भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के कथाकार थे। उनकी दृष्टि समाज के सभी वर्गों, सभी स्तरों की जनता की तरफ़ जाती थी, जो इस आन्दोलन के बहाव में अपनी जड़ता छोड़कर नई तरह की हरकत कर रहे थे। यह सही है कि मज़दूरों से प्रेमचन्द का सम्पर्क नहीं के बराबर था।

समाज के इस क्रान्तिकारी वर्ग का जैसा चित्र इतने बड़े उपन्यासकार की रचनाओं में मिलना चाहिए, वह वहाँ नहीं है। 'गोदान' में मेहता के चरित्र से मालूम होता है कि प्रेमचन्द इस कमी को महसूस करने लगे थे और अगर 'हंस' की चिन्ता ने, ज़िन्दगी की गाड़ी खींचने के परिश्रम ने, साहित्यिक और राजनीतिक संस्थाओं की उदासीनता और कभी-कभी विश्वास-घात ने उनको असमय ही शरीर-त्याग करने के लिए बाध्य न किया होता तो वह इस खामी को दूर करते हुए और भी सुन्दर उपन्यास हमें देते।

प्रेमचन्द के उपन्यास कुछ-एक पात्रों की कहानियाँ नहीं हैं। उनमें उन्होंने जीवन-प्रवाह की ही झाँकी दिखलाई है। जागीरदार, ज़मींदार, कारिन्दे, हाकिम, पुलिस के अफ़सर, प्रोफेसर, पढ़ी-लिखी और अपढ़ देवियाँ, धनी, मध्यम और ग़रीब किसान, खेत-मज़दूर, अछूत, वेश्याएँ—इन सभी का सामाजिक जीवन, उनके मनोजगत् का इतिहास हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। समाज की इस विविधता का चित्रण करने में, इतने प्रसार और गहराई से चित्रण करने में प्रेमचन्द संसार के बड़े-से-बड़े उपन्यासकारों के बराबर जगह पाते हैं।

लेकिन एक कहानीकार की हैसियत से क्या उन्हें निःसंकोच संसार के बड़े-से-बड़े कहानीकारों में गिना जा सकता है? शायद नहीं। उनकी कुछ कहानियाँ बहुत ही अच्छी हैं, फिर भी इतनी अच्छी नहीं जितनी बड़े-से-बड़े कलाकारों की होती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमचन्द एक ऊँचे दर्जे के कहानीकार नहीं थे। ऊपर कही हुई बातें भी सच हैं, जब हम संसार के चोटी के कहानीकारों का ध्यान करें या स्वयं उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहानीकार प्रेमचन्द की तुलना करें। जब हम हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं की तरफ़ नज़र डालते हैं, तब हम उन्हें अच्छे-से-अच्छे कहानीकारों की पाँती में बैठने का हकदार पाते हैं और ब्रिटेन और अमेरिका के अच्छे-से-अच्छे कहानीकारों से किन्हीं बातों में आगे बढ़ा हुआ भी पाते हैं।

प्रेमचन्द की लगभग पचास कहानियाँ ऐसी होंगी जो हिन्दी में अपना अमर स्थान बना चुकी हैं। हिन्दुस्तान की जिन दूसरी भाषाओं में उनकी

कहानियों का अनुवाद हुआ है, उनमें भी उनकी लोकप्रियता में सन्देह नहीं रह गया।

उपन्यासों की तरह कहानियों में भी प्रेमचन्द कोई नियम-कायदे मानकर नहीं चले। एक बार जैनेन्द्र जी से उन्होंने कहा था—"कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जायँ तब बेशक उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए।"

प्रेमचन्द की कहानियों का सबसे बड़ा नियम यही है कि जब हृदय के दान में नियम बाधक हों, तब उन्हें तोड़ देना चाहिए। इसीलिए उनकी कहानियों का गठन हर जगह एक-सा नहीं है।

उनकी काफ़ी कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें ग्रामीण कथाओं का रस और उनकी शैली अपनाई गई है। आम तौर से उनकी कहानियों में जो एक ठेठपन है, पाठक के हृदय में अपनी बात को सीधे उतार देने की जो ताकत है, वह उन्होंने हिन्दुस्तान के अक्षय ग्रामीण कथा-भंडार से सीखी है। उनकी कितनी ही कहानियाँ इस सीधे ढंग से शुरू नहीं होतीं?—"किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा ग़रीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न देने में।···एक दिन संध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया।" ('सवा सेर गेहूँ')।

कथा कहने का यह ठेठ ढंग हिन्दुस्तान के हर गाँव में कहानी कहने वाला और सुनने वाला जानता है। यही सबब है कि किसानों और स्त्रियों में उनकी कहानियाँ तुरन्त लोकप्रिय हो गई हैं। यह कहना असंगत न होगा कि उनकी कहानियों में एक तरह का लोक-रस है—कुछ यहाँ की धरती की सुगन्ध, यहाँ की हवा की ताज़गी और महक—जो बड़े-बड़े टेकनीक-वादियों के यहाँ बहुत तलाश करने पर भी नहीं मिलती।

प्रेमचन्द ने ग्राम-कथाओं से कहानी कहना सीखा था. उनकी नकल न की थी। उनकी शैली आम तौर से व्यंग्य-प्रधान होती है, उसमें एक तरह

का कसाव होता है, एक काव्य-तत्त्व, जो ग्राम-कथाओं में कभी-कभी मिलता है। "सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है।" ('मुक्ति-मार्ग') यहाँ पर एक ही वाक्य में प्रेमचन्द ने न जाने कितनों को घायल कर दिया है। इस तरह का पुञ्जीभूत व्यंग्य—शास्त्रकार इस प्रयोग के लिए क्षमा करें—प्रेमचन्द की शैली की अपनी विशेषता है।

ग्राम-कथाओं की एक विशेषता और है कि उनमें कथा का काफ़ी प्रसार रहता है। उनमें स्थान, समय और घटना की एकता का प्रसिद्ध यूरोपियन नियम लागू नहीं होता। ग्रामीण श्रोताओं के लिए रस उत्पन्न करने वाली कहानी काफी लम्बी होनी चाहिए वर्ना वह बीरबल का चुटकला हो जायगी। प्रेमचन्द कभी-कभी चुटकलेबाज़ी भी करते हैं, लेकिन कभी-कभी। कुछ पश्चिमी कहानीकारों की नकल करते हुए यहाँ के लेखक कहानी को ऐसी "शार्ट स्टोरी" बना देते हैं कि आप पढ़ने वालों को उसमें आनन्द ही नहीं आ पाता। कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दुस्तान में कहानी पश्चिम से आई। 'हितोपदेश' और 'कथा सरित्सागर' के रहते हुए—'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन-बत्तीसी' का जिक्र न करें तो भी—ऐसा सोचना यूरोप-भक्ति का प्रमाण हो सकता है, वैज्ञानिक विवेचन का नहीं। 'जातकों' और 'पंचतंत्र' के देश को यूरोप वाले कहानी कहना सिखलाने आयें।

भारतीय कथा-साहित्य की जातीय परम्परा से प्रेमचन्द की कहानियों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहानी फ़ुरसत की चीज़ है, काम-धाम से छुट्टी पाकर सुनने की चीज़, और जल्दबाजी से काम बिगड़ जाता है। प्रेमचन्द के कहानी कहने में यह फ़ुरसत का भाव मिलता है। वह कहानी सुनाते हैं, अक्सर लच्छेदार जबान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आज़ादी देकर, अंग्रेज़ी बाग़ के माली की तरह उनकी डालियाँ और पत्ते कतरकर नहीं, फूलों और पत्तियों को हवा में बढ़ने और लहराने

की आजादी देकर। जिन्दगी के अनुभवों पर टीका-टिप्पणी भी साथ में चला करती है; व्यंग्य, अनूठी उपमाएँ और हास्य बीच-बीच में पाठक को गुदगुदाते रहते हैं।

'दो बैलों की कथा' का पहला पैरा गधे के गुणों का वर्णन करता है। दूसरे पैरे में बैल और गधे के गुणों का तुलनात्मक अध्ययन है और फिर लेखक अपना निष्कर्ष प्रकट करता है—"कुछ लोग बैल को शायद बेवकूफों में सर्वश्रेष्ठ कहेंगे; मगर हमारा विचार ऐसा नहीं है। बैल कभी-कभी मारता भी है, कभी-कभी अड़ियल बैल भी देखने में आ जाता है। और भी कई रीतियों से वह अपना असन्तोष प्रकट कर देता है; अतएव उसका स्थान गधे से नीचा है।" यहाँ पर प्रेमचन्द ने शैली में प्रसार और वर्णन में शब्द-चयन की सुघराई के साथ-साथ समाज में एक प्रचलित दृष्टिकोण पर—असन्तोष को प्रकट न करके चुपचाप अन्याय सहने के दृष्टिकोण पर—व्यंग्य भी किया है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ पढ़ते समय घटना-कुतूहल कम रहता है, चरित्र-चित्रण की बारीकियों में पाठक का मन ज्यादा रमता है। उनकी कहानियों में घटनाओं का वैसा महत्व नहीं है जैसा चरित्र का। वह पाठक को सनसनीखेज घटनाओं से चौंका देना पसन्द नहीं करते। 'मुक्तिमार्ग' में बुद्धू झींगुर के खेत में आग लगा देता है, लेकिन यह घटना कहानी में बहुत ही गौण स्थान रखती है; मुख्य वस्तु झींगुर और बुद्धू का चरित्र और उनका जीवन है।

प्रेमचन्द में कहीं-कहीं घटना-वैचित्र्य भी आता है, लेकिन वह कहानी को कमज़ोर बना देता है। 'डामुल का क़ैदी' में पुनर्जन्म का आभास, हड़ताल से लेकर सेठ के काले पानी तक की घटनाएँ कहानी को अस्वाभाविक बना देती हैं, उसकी रोचकता खत्म हो जाती है। उनकी कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो जीवन-चरित्र लिखने-जैसी हो गई है. मानो वह अपने नायक के बारे में सभी बातें पाठक को बतला देना चाहते हैं। उनकी सबसे असफल कहानियाँ वे हैं जिनमें उनका उद्देश्य हृदय-परि-

वर्तन दिखलाना है। इनमें उनका यथार्थवादी चित्रण अपनी चमक खो देता है और उसके बदले आदर्शवादी अस्वाभाविकता का मुलम्मा ही पल्ले पड़ता है। 'डामुल का कैदी' ऐसी ही कहानी है।

प्रेमचन्द की कहानियों की विभिन्नता, विविध पात्रों का भारी जमाव आश्चर्यजनक है। उनकी कहानियों की विषय-वस्तु में जितनी विविधता है, उतनी उपन्यासों में भी नहीं। 'शतरंज के खिलाड़ी' के मिर्ज़ा और मीर साहब से लेकर 'दो बैलों की कथा' के दो बैलों तक उनके पात्रों में ऐसी विविधता है कि प्रेमचन्द की स्मरण-शक्ति, उनकी सर्वग्राही दृष्टि, ज़िन्दगी का विशद अनुभव पाठक को आश्चर्य में डाल देते हैं। उनके चरित्र-चित्रण की यह बहुत बड़ी सफलता है कि थोड़ी देर के सम्पर्क से ही उनके पात्र बहुत दिनों के परिचित-जैसे लगने लगते हैं और कहानी खत्म कर देने पर भी पाठक को बहुत दिनों तक याद रहते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियाँ केवल मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं लिखी गई। उन सभी में कोई-न-कोई सुझाव, जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण, किसी समस्या का हल ज़रूर मिलता है। यह उनकी खूबी है कि सारी बात वह ऐसी चित्र खींचकर कहते हैं कि कहानी में उपदेशकों का रूखापन नहीं आने पाता। उनके चित्र बड़े ही सजीव होते हैं मानो घटना आँखों के सामने हो रही हो और प्रेमचन्द उसे नोट करते जाते हों—

"झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया।" ('मुक्ति-मार्ग')।

"शाम हो गई। खंडहर के चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबा-बीलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों।" ('शतरंज के खिलाड़ी')

"भोंदू पसीने से तर, लकड़ी का एक गट्ठा सिर पर लिये आया और

उसे ज़मीन पर पटककर बंटी के सामने खड़ा हो गया, मानो पूछ रहा हो —क्या अभी तेरा मिजाज ठीक नहीं हुआ ?"

"संध्या हो गई थी, फिर भी लू चलती थी और आकाश पर गर्द छाई हुई थी। प्रकृति रक्त-शून्य देह की भाँति शिथिल हो रही थी।" ('प्रेम का उदय')।

कथा की यह चित्रमयता, पात्र को उसकी पृष्ठभूमि के साथ थोड़े से शब्दों में आँक देने की यह खूबी प्रेमचन्द की कला की सफलता का रहस्य है।

प्रेमचंद चरित्र-चित्रण खुद अपने शब्दों से, घटनाओं के द्वारा दूसरों की सम्मति पेश करके ही नहीं करते; साधारणतः उनके पात्रों के संवाद उनके चरित्र को सबसे अच्छी तरह प्रकट करते हैं। यहाँ पर भाषा पर प्रेमचन्द का असाधारण अधिकार दिखाई देता है। हिन्दी भाषा कितनी समृद्ध है, इसका परिचय भी मिलता है।

"प्राण शरीर में नहीं रहता, ब्रह्माण्ड में रहता है। मैं चाहूँ, तो योग-बल से अभी प्राण-त्याग कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चेतावनी दे दी, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरा कहना मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। न मानोगे, हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखला सकोगे। बस, यह लो, मैं यहीं आसन जमाता हूँ।"—

यह 'सत्याग्रह' के मोटेराम हैं। जैसा भारी-भरकम उनका व्यक्तित्व वैसे ही उनके शब्द हैं। जैसा ज्ञान-शून्य उनका मस्तिष्क है, वैसा ही निरर्थक उनका वाक्य-प्रवाह है।

"मेरे दादा नवाबी में चक्लेदार थे, हुज़ूर सात ज़िले के मालिक, जिसे चाहे तोप दम कर दें, फाँसी पर लटका दें। सूरज निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ चढ़ जाती थीं हुज़ूर! नवाब साहब भाई की तरह मानते थे। एक दिन वह थे, एक दिन यह है कि हम आप लोगों की ग़ुलामी कर रहे हैं। दिनों का फेर है।"

यह 'तगादा' का इक्के वाला है। जितना तेज़ उसका इक्का नहीं,

उतनी तेज़ उसकी ज़बान है। ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाने में एक ही है।

"कहीं ऐसा ग़ज़ब न करना, नही तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे। बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी क्रोध चढ़ आता है। क्रोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीज़ें ले आना।"

यह 'सद्गति' का दुखी चमार है जो अपनी पत्नी झुरिया को पंडित घासीराम के स्वागत-सत्कार के लिए निर्देश दे रहा है।

"मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरज़ा—अजी जाइये भी, गाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावरची का काम करते आए होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं।"

ये 'शतरंज के खिलाड़ी' हैं जो म्यान से तलवारें खींचने ही वाले हैं।

संवाद, चरित्र-चित्रण, कथानक—कहीं भी प्रेमचन्द तटस्थ होकर कलम नहीं चलाते। वह जीवन-प्रवाह से अलग खड़े हुए उस पर 'गम्भीर' चित्रण करने वाले लेखक नहीं हैं। वह उसमें भाग लेने वाले, उसे गति देने वाले, उसकी लहरों को एक दिशा देने वाले साहित्यकार हैं।

मोटेराम का चित्रण करने में समाज के इन निठल्लों और राज-भक्ति को परम धर्म मानने वालों के प्रति प्रेमचन्द की घृणा उनके हर वाक्य से प्रकट होती है। उनकी शैली में ओज और व्यंग्य की प्रखरता का कारण अन्याय से उनकी घृणा है। 'इस्तीफा' कहानी की व्यंग्यपूर्ण परिस्थिति, साहब से गाली खाकर आकर और पत्नी के सामने झूठ बोलना कि हम

ना

उसे पीट आए हैं और उससे शाबाशी पाने पर फिर जाकर साहब की खबर लेना, प्रेमचन्द के पक्षपात को अच्छी तरह प्रकट करते हैं। गाली देने वाले साहब और गाली सुनने वाले क्लर्क के संघर्ष में वह तटस्थ नहीं हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' में वह 'कला कला के लिए' का खूब मज़ाक उड़ाते हैं। मिर्ज़ा और मीर उन लोगों में हैं जिनके लिए अपना मनोरंजन ही सब-कुछ है; देश भाड़ में जाय, उन्हें इससे मतलब नहीं। इसीलिए इस कहानी का व्यंग्य इतना तीखा है।

प्रेमचन्द को अपने देश की जनता से गहरा प्रेम और सहानुभूति है। जब वह साधारण किसानों और अछूतों का चित्रण करते हैं—'पूस की रात', 'कफ़न' वग़ैरह में—तब उनकी सहानुभूति कथा के रचने में साफ़ झलकती है। प्रेमचन्द गरीबी और अन्ध-विश्वासों को आदर्श कहकर चित्रित नहीं करते। वह दिखलाते हैं कि इतने अंधेरे में भी मनुष्यता का दीपक कैसे जल रहा है, उसकी लौ धनी आदमियों के घर से यहाँ कितनी ऊँची उठ रही है।

'प्रेम का उदय' ऐसे लोगों की कहानी है जिन्हें जरायम पेशा कहा जाता जाता है। इनमें भी पुलिस-अफसरों के मुकाबलों में ईमानियत किस हद तक ज़िन्दा है, प्रेमचन्द भोंदू और उसकी पत्नी बंटी के झगड़े और उनके प्रेम की कथा कहकर बतलाते हैं। भोंदू दूसरे कंजड़ों की तरह चोरी नहीं करता, इसलिए बंटी उससे नाराज़ रहती है। गहनों और कपड़ों के लिए उसका शौक पूरा नहीं होता। भोंदू बहुत ही पराक्रमी आदमी है, लेकिन बंटी के सामने भीगी बिल्ली बना रहता है। उसका एक-मात्र दुःख का साथी उसका गधा है।

"सूर्यास्त हो रहा था। उसने देखा, उसका गधा चरकर चुपचाप सिर झुकाये चला आ रहा है। भोंदू ने कभी उसकी खाने-पीने की चिन्ता न की थी; क्योंकि गधा कभी किसी और को अपना स्वामी बनाने की धमकी न दे सकता था। भोंदू ने बाहर आकर आज गधे को पुचकारा उसके

सहलाई और तुरन्त उसे पानी पिलाने के लिए डोल और रस्सी लेकर चल दिया।"

भोंदू ने उसी रात चोरी की। बंटी को सब मनचाहा सामान मिल गया, लेकिन जब रात को देवी को बलि चढ़ाने के लिए वह बकरा चुराने गया तो पकड़ लिया गया। थाने में उसे बुरी तरह पीटा जाता है, लेकिन वह इसे कंजड़ों का धर्म समझता है कि चोरी कभी न कबूले। बंटी को खबर लगती है तो वह थाने पहुँचती है। जब भोंदू के सामने मिर्चों की धूनी सुलगा दी गई, तब बंटी ने चोरी कबूल की। भोंदू ने हताश होकर पत्थर से माथा फोड़ लिया। बंटी लौटकर बची हुई फुलौरियाँ और शराब खत्म करती है। भोंदू का इंतज़ार करती रहती है लेकिन भोंदू नहीं आता, उसका गधा आता दिखाई देता है।

"बंटी आज उस अभागे से गधे को देखकर ऐसी प्रसन्न हुई, मानो अपना भाई नैहर से बतासों की पोटली लिये थका-माँदा चला आता हो। उसने जाकर उसकी गर्दन सहलाई और उसके थूथन को अपने मुँह से लगा लिया।"

आखिर भौंदू वापस आता है और बंटी नम्रमुख होकर उसके साथ रहने लगती है।

'सवा सेर गेहूँ' में उन्होंने कर्ज़ की वजह से गुलामी करने वाले शंकर की करुण कथा लिखी है। वह एक बार सवा सेर गेहूँ उधार लेता है और उसे पटाते-पटाते बीस साल लग जाते हैं, फिर भी वह गुलामी करता हुआ मरता है। कहानी के अन्त में प्रेमचन्द कहते हैं—"पाठक! इस वृत्तान्त को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।"

अपनी कई कहानियों में उन्होंने कर्ज़ के विचित्र तरीकों, सूद लेने की अनोखी तरकीबों का चित्रण किया है। 'मुक्ति-धन' उनकी ऐसी ही एक कहानी है। वह सामाजिक अन्याय के सभी रूपों को चित्रित करते हैं। महाजनों का अन्याय ऐसा था, जिसे समाज में बहुत से लोग न्याय

समझते थे। इसीलिए उस पर प्रेमचन्द ने बड़ी चुभती हुई कहानियाँ लिखी हैं।

'समर यात्रा' और उस तरह की दूसरी कहानियों में उन्होंने अंग्रेज़ी राज से लड़ने वाली जनता का उत्साह और त्याग दिखलाया है। एक अंधा लड़का खंजरी बजा-बजाकर गाता है—वतन की देखिए तक़दीर कब पलटती है। वह भी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए चन्दा देता है। चट्टियाँ और स्लीपर बेचने वाला मैकू आज़ादी की लड़ाई को अपनी लड़ाई समझता है। कहता है—"बड़े आदमी क्यों जलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है। मर तो हम लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफोन लिये गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आयें पुलिस के कोड़े खाने के लिए, तुमने भी खूब कही।"

प्रेमचन्द की अनेक कहानियों का सम्बन्ध पारिवारिक समस्याओं से है। 'अलग्योझा' कहानी में घर का बटवारा होने से कितना नुकसान होता है, इसका परिचय दिया गया है। प्रेमचन्द संयुक्त परिवार के हामी थे, लेकिन आर्थिक कठिनाइयों की वजह से संयुक्त परिवार टूट रहा था। समझौतों से थोड़े ही दिन तक गाड़ी चल सकती थी। 'दो भाई' और 'वैर का अंत' कहानियाँ भाइयों के आपसी झगड़ों का दुष्परिणाम दिखलाती हैं। 'गृह-दाह' में लड़के को विमाता की वजह से परदेस कमाने जाना पड़ता है और सारे परिवार को गृह-कलह की वजह से हानि उठानी पड़ती है। 'घर-जमाई' का हरिधन विमाताओं से इतना डरता है कि सुसराल ही में रहने का निश्चय करता है। जब वहाँ उसका अपमान होने लगता है, तब झख मारकर विमाता के पास आता है और मिलकर परिवार चलाता है। इस तरह की कहानियों में प्रेमचन्द हिन्दुस्तानी परिवार के पुराने ढाँचे को आज की परिस्थितियों में टूटता हुआ दिखलाते हैं। अक्सर वह दिखलाते हैं कि हृदय की भावनाएँ बदलने से परिवार की समस्या हल हो गई। लेकिन पारिवारिक झगड़ों का मूल कारण है आर्थिक—ज़मीन की कमी,

लगान का बढ़ना, कर्ज़ का बोझ, स्त्रियों को काम न मिलना, मर्दों की बेकारी, एक का कमाना और दस को खिलाना—और जब तक लोगों की ये आर्थिक कठिनाइयाँ दूर नहीं होतीं तब तक उनका पारिवारिक जीवन भी सुखी नहीं रह सकता।

प्रेमचन्द के युग में सदियों से चला आता हुआ संयुक्त परिवार टूट रहा था। अब एक नई तरह का परिवार ही बन सकता था, जिसमें सभी मेहनत करने वाले हों और सभी का दर्जा बराबरी का हो। अंग्रेज़ी राज के शोषण-चक्र में पुराना ढाँचा तो टूट रहा था, लेकिन नया ढाँचा न बन पा रहा था जिसमें सभी को काम मिले और सभी समानता और सुख के साथ पारिवारिक जीवन बिता सकें। फिर भी कुछ कहानियों में प्रेमचन्द ने यह दिखलाया है कि बहुत सी घर-परिवार की समस्याओं का समाधान काम करने की सुविधा मिलने से प्राप्त हो सकता है।

'सुभागी' कहानी की विधवा पिता के घर जाकर रहती लेकिन वहाँ उसके भाई-भौजाइयों से उसकी नहीं पटती। पिता के साथ वह खेती के काम में हाथ बटाती है और उसका कर्ज भी चुका देती है। उसे कमाने वाले देखकर कुछ लोग उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करते हैं और अन्त में वह विवाह कर भी लेती है। विधवा-विवाह की समस्या का ऐसा समाधान बहुत कम कहानियों में मिलेगा।

विधवाओं के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति है। उनके प्रति समाज का अन्याय उन्हें असहनीय मालूम पड़ता है। इसलिए वह उनके सात खून माफ करने के लिए भी तैयार रहते हैं। 'बालक' कहानी की विधवा गोमती तीन-चार बार ब्याही जाने पर भी पति को छोड़कर भाग जाती है। विधवाश्रम से निकाली जाकर वह एक कोठरी लेकर रहने लगती है, जहाँ से गंगा ब्राह्मण उसका उद्धार करते हैं। फिर वह गंगू को भी छोड़कर भाग जाती है। अस्पताल में उसके बच्चा होता है और गंगू उसे बच्चे सहित अपने घर ले आते हैं।

दूसरे कहानीकारों की अपेक्षा प्रेमचन्द की कहानियों में कर्कशा स्त्रियों

की संख्या बहुत कम है। इसका कारण यह है कि वह स्त्री की पराधीनता को समझते थे और उससे उन्हें सच्ची सहानुभूति थी।

'मृतक भोज'-जैसी कहानियों में प्रेमचन्द ने समाज में प्रचलित कुरीतियों की धज्जियाँ उड़ाई हैं और दिखलाया है कि इनसे साधारण लोगों को कितना नुकसान होता है। साथ ही धार्मिक अन्ध-विश्वासों से पंडे-पुरोहित किस तरह लाभ उठाते हैं, यह भी वह अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं।

प्रेमचन्द अपनी कहानियों में एक महान् शिक्षक के रूप में नज़र आते हैं। पारिवारिक समस्याओं से लेकर राजनीतिक आन्दोलन तक—वह सभी क्षेत्रों से कहानी के लिए विषय-वस्तु लेते हैं। उनकी कहानियों का सम्बन्ध उन समस्याओं से है, जिनका सामना आये दिन लोगों को अपने जीवन में करना पड़ता है।

अच्छी कहानी लिखने के लिए विषय-वस्तु का महत्वपूर्ण होना ज़रूरी है। लेखक को जीवन की गहरी जानकारी होनी चाहिए। प्रेमचन्द में ये सब बातें थीं। इसलिए वे ऐसी कहानियाँ लिख सके जिनमें जनता ने अपने जीवन की झलक देखी। समाज की पीड़ित विधवाएँ, सौतेली माताओं से परेशान बालक, महन्तों और पुरोहितों से ठगे जाने वाले किसान, दूसरों की गुलामी करके भी पेट न भर पाने वाले अछूत, महाजन का सूद भरते-भरते ज़िन्दगी गारत करने वाले किसान,—ये और इस तरह के सभी लोग कहानीकार प्रेमचन्द में एक अच्छा दोस्त और सलाहकार पाते हैं। समाज के अन्यायी और अत्याचारी, निठल्ले और मुफ़्तख़ोर, अंग्रेज़ी राज के वफ़ादार मददगार प्रेमचन्द में अपनी वह असली सूरत देख सकते हैं जैसी कि वह जनता का पक्ष लेने वाले एक सजग साहित्यकार को दिखाई देती थी।

उनकी कहानियाँ कहीं हास्य-प्रधान हैं जैसे मोटेराम, जिनमें प्रेमचन्द को बच्चों की तरह मोटी और बेढंगी चीज़ देखकर हँसी आती है, कहीं कहानियों में हास्य के साथ करुणा मिली हुई है जैसे 'पूस की रात' की ठंडी

हवा में बिना कम्बल के रात काटने वाले किसान और उसके कुत्ते की बात-चीत, कहीं हास्य समाज-व्यवस्था पर क्रोध पैदा करने वाला है जैसे 'कफ़न' के किसानों की बातचीत, जो लेखक को बार-बार सोचने पर मजबूर करती है, समाज में कौन से लोग इन्हें इस तरह की ज़िन्दगी बिताने पर मजबूर करते हैं। कहीं उनकी कहानियाँ जनता की शोचनीय दशा दिखाकर पाठक के हृदय को द्रवित कर देती हैं, कहीं वे जनता की शूरता का प्रदर्शन करके उसके मन को उत्साहित करती हैं।

उनकी कहानियों में एक महान् रचनाकार की प्रचुरता और विविधता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह अपनी बात को—किसी कथानक को—दोहराते नहीं हैं। प्रेमचन्द हिन्दुस्तान के उन थोड़े से कलाकारों में हैं जो हिन्दू और मुसलमान—दोनों पर समान अधिकार से लिख सकते हैं। वह बच्चों, बूढ़ों, सधवाओं, विधवाओं, पढ़ी-लिखी स्त्रियों और अपढ़ किसान स्त्रियों का समान सफलता से चित्रण कर सके हैं। उनकी सबसे सफल कहानियाँ वह हैं जिनमें उन्होंने किसानों के जीवन का चित्रण किया है। किसानों में भी अन्ध-विश्वास है, राग-द्वेष है, एक दूसरे के खेत तक जला देते हैं, फिर भी इनमें मनुष्यता का प्रकाश कितना प्रखर है। प्रेमचन्द इस जनता में विश्वास करना और उसके लिए अपना जीवन बिताना हमें सिखाते हैं।

उनका कहानी-साहित्य हमारे जातीय जीवन का दर्पण है। हिन्दी-भाषी जनता के उत्कृष्ट गुण उनके पात्रों में झलकते हैं। उनके अधिकांश पात्र हास्य-प्रेमी, ज़िन्दादिल, कठिन परिस्थितियों का धीरज से मुकाबला करने वाले, अन्याय के सामने सिर न झुकाने वाले होते हैं। प्रेमचन्द ने ये सब बातें जनता में देखी थीं, इसलिए कहानियों में उन्हें चित्रित कर सके थे।

उनकी शैली की चित्रमयता, भाषा पर असाधारण अधिकार, चरित्र-चित्रण का कौशल और हर जगह व्यंग्य और हास्य ढूँढ लेने की क्षमता उन्हें एक प्रभावशाली कलाकार बनाती है। उनकी सहृदयता और मानव-प्रेम उन्हें जनता का प्रिय कलाकार बनाता है।

सम्पादक, विचारक और समालोचक

प्रेमचन्द स्वयं साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, वह दूसरों में साहित्य-रचना की प्रेरणा पैदा करने वाले और नये लेखकों को प्रोत्साहित करने वाले साहित्यकार भी थे। वह भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी की शानदार परंपरा में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने इस परंपरा को उन्नत किया था। 'माधुरी' और आगे चलकर विशेष रूप से 'हंस' के ज़रिये उन्होंने हिंदी-साहित्य की शक्तियों को बटोरने का भगीरथ प्रयत्न किया था। उनके पत्र में एक तरफ़ निराला जी के छायावादी गीत प्रकाशित होते थे तो दूसरी ओर उनकी अपनी यथार्थवादी कहानियाँ भी छपती थीं। लेकिन प्रेमचन्द तटस्थ संपादक नहीं थे। वह राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावनाओं का विरोध करने वाली रचनाओं को ख़ुद छापना तो दूर, दूसरी जगह भी वे छपें, तो उनकी आलोचना करना न भूलते थे।

'हंस' के 'द्विवेदी-अभिनन्दनांक' में सम्पादकीय कलम से जो शब्द द्विवेदीजी के लिए लिखे गए हैं, वे कुछ घट-बढ़कर प्रेमचन्द पर भी लागू होते हैं।

"स्वभाव से अत्यन्त दृढ़-प्रतिज्ञ और हृदय से परम कोमल, ये हमारे अपने हैं, इस बात को हिन्दी-जगत् उसी दिन मान गया था, जब ये 'सरस्वती' में थे। उन दिनों ये हम सबको पिता की तरह शासित किया करते थे और माता की तरह प्यार! ये हमारी गलतियों पर फटकारते थे, उन्हें प्रेमपूर्वक सुधार देते थे और हमारी सफलता पर हमें प्रेम के मोदक भी खिलाते थे। इन्होंने ठोंक-ठोंककर हमें सुधारा; पुचकार-पुचकारकर ठीक रास्ते पर चढ़ाया और उत्साह दे-देकर आगे बढ़ाया।"

प्रेमचन्द के ये वाक्य अप्रैल सन् '३३ में प्रकाशित हुए थे, जब वह स्वयं हिन्दी में चोटी के साहित्यकार माने जाते थे। दूसरों का सम्मान करने में

उनकी स्वाभाविक उदारता देखते ही बनती है।

प्रेमचन्द की फटकार का नमूना देखिये। कथाकार सुदर्शन से कह रहे थे : "मैं तो समझता था आप फारग-उल-बाल होकर अदब की ज़्यादा खिदमत कर सकेंगे, मगर मेरा खयाल ग़लत निकला। अब महीनों गुज़र जाते हैं और आपका कोई किस्सा किसी अखबार में नज़र नहीं आता। चार नहीं दो सही, दो नही एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिये। इससे तो वह तंगदस्ती ही अच्छी थी जो आपसे कुछ-न-कुछ लिखवा लेती थी।"

यह बात सन् '२७ की है जब प्रेमचन्द 'हंस' के सम्पादक न थे। उनके लिए यह ज़रूरी नहीं था कि सम्पादक बनने पर ही किसी को फटकारें या उत्साहित करें। वह एक युग-निर्माता साहित्यकार थे और अपने कर्तव्य को अच्छी तरह पहचानते थे। वह ऐसे अहंवादी नहीं थे कि समझते कि उन्हीं के लिखते रहने से हिन्दी-साहित्य का उद्धार हो जायगा। इसीलिए किसी अच्छे लेखक को चुप्पी साधते देखकर वह बिगड़ उठते थे।

उनके प्रोत्साहित करने की एक मिसाल श्री वीरेश्वरसिंह को लिखे हुए खत में है। दो महीने से प्रेमचन्द खाट पर पड़े हुए थे। पेचिश की तकलीफ थी; लीवर भी खराब था। फिर भी लिखते हैं—"आज 'भारत' से तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना। बड़ी तकलीफ़ में था, लेकिन फिर भी कुछ आराम ही मिला। बड़ा अच्छा लेख है।"

ऐसी बीमारी में 'हंस' के एक लेखक की रचना को—जो दूसरे पत्र में छपी थी—पढ़वाकर सुनना और उसकी दाद देना प्रेमचन्द का ही काम था।

प्रसाद जी का 'कंकाल' प्रकाशित होने पर प्रेमचन्द ने उसकी प्रशंसा छापी थी और उनके असर से ही प्रसाद जी ने 'तितली' में एक नये ढंग की कथा रचने की कोशिश की थी।

प्रेमचन्द आम तौर से कटु शब्दावली का प्रयोग नहीं करते थे। उनके विरुद्ध कई लेखकों ने गंदे लेख लिखे, लेकिन उससे वह क्षुब्ध नहीं हुए। लेकिन

जब वह किसी दूसरे लेखक पर कीचड़ उछाला जाता देखते थे, तब ज़रा भी मुलाहिज़ा न करके वह सीधा वार करते थे। 'सरस्वती' में पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के सम्बन्ध में एक गंदा लेख निकला, तब 'हंस' में 'साहित्यिक गुंडापन' नाम से टिप्पणी देकर उन्होंने उसकी तीव्र आलोचना की।

इस टिप्पणी के अन्त में प्रेमचन्द ने लिखा था–"श्रीनाथसिंह मुझसे मिल चुके हैं और कितने ही मनुष्यों के बारे में ऐसी बातें कर चुके हैं कि यदि मैं लिखूँ, तो वह प्रयाग में बहुत हल्के हो जायँगे; लेकिन ऐसी बातें करना जितनी बड़ी नीचता है, उसका ज़िक्र करना, उसमें भी बड़ी नीचता है। इस तरह के प्रोपेगेंडे से श्रीनाथसिंह जी न साहित्य का उपकार कर रहे हैं, न 'सरस्वती' का, न अपना; वरन् संसार के सामने हिन्दी के सम्पादकों की भद्द करा रहे हैं, उन्हें कलंकित कर रहे हैं। आपकी यह कृति देखकर इसके सिवा और क्या होगा कि दुनिया कहेगी–जब 'सरस्वती'-जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका का संपादक ऐसा लफंगापन कर सकता है, तो फिर शायद यह आवा ही बिगड़ा हुआ है।"

प्रेमचन्द ने यहाँ सख्ती से काम लिया है, यह समझते हुए कि यह मर्ज़ मामूली दवा से भागने वाला नहीं है। वह हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-साहित्यकारों की प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाले पत्रकार थे। इसलिए उनकी कटु शब्दावली उन्हें शोभा देती थी।

प्रेमचन्द पर यह आरोप लगाया गया था कि वह घृणा का प्रचार करते हैं। प्रेमचन्द ने दिसम्बर १९३३ के 'हंस' में 'जीवन में घृणा का स्थान' नाम से इस विषय पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी लिखी थी। वह जीवन में घृणा के अस्तित्व को मानते थे। उनका मानवतावाद इतना व्यापक न था कि उसमें अन्यायी, अत्याचारी सभी घुल-मिलकर शुद्ध मानव बन जायँ। उन्होंने इस टिप्पणी के शुरू में लिखा था–"निन्दा, क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण हैं; लेकिन मानव-जीवन में से अगर इन दुर्गुणों को निकाल दीजिए, तो संसार नरक हो जायगा।"

प्रेमचन्द के अनुसार घृणा के बिना बुराइयों से छुटकारा नहीं मिल सकता "पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी।"

प्रेमचन्द की रचनाओं को समझने के लिए ये शब्द सूत्र की तरह उपयोगी हैं। उनका साहित्य पाखंड, धूर्तता, अन्याय और बलात्कार से घृणा करना सिखलाता है। यह साहित्य जीवन में तटस्थ नहीं है। वह धूर्तता, अन्याय और बलात्कार देखकर किसी शाश्वत सत्य के आँचल में मुँह नहीं छिपा लेता। वह पाठक से ललकारकर कहता है आओ, इस अन्याय और अत्याचार से घृणा करो। इसे दुनिया से मिटा दो।

पाखंड, धूर्तता, अन्याय आदि देश-काल से परे अदृश्य और अस्पृश्य वृत्तियाँ नहीं हैं। उनका सामयिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमचन्द का साहित्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाता है, लेकिन ज़माने से ऊपर उठकर नहीं। वह किसी विशेष धूर्तता, किसी विशेष अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला साहित्य है; किसी निर्विशेष अन्याय, किसी चिरन्तन धूर्तता से काल्पनिक युद्ध करने वाला साहित्य वह नहीं है। प्रेमचन्द मानव-आत्मा के शिल्पी हैं, इसलिए कि वह आत्मा अखंड, अच्छेद्य और अनादि न होकर किन्हीं देश-काल की परिस्थितियों में दुःख-सुख पाती है।

जनता की तरफ़दारी करने वाला लेखक सबका भला बनकर नहीं रह सकता। जब वह देश-काल की सीमाओं में बँधे हुए किन्हीं खास लोगों के अन्याय और पाखंड का पर्दा-फाश करता है, तब यह स्वाभाविक हो जाता है कि उसकी चोट खाकर तिलमिला उठने वाले लोग उसके खिलाफ़ जिहाद बोल दें। इस सिलसिले में प्रेमचन्द का अनुभव यह था—

"इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है।"

ब्राह्मणत्व की आड़ में होने वाले पाखंडाचरण की निन्दा करते हुए प्रेमचन्द ने आगे लिखा है—"हरेक टकापंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं

इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत वर्णोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं; कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ' के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाय, वह थोड़ी है; केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं; क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं, जैसे आलोचक महोदय के।"

प्रेमचन्द का मानववाद मनुष्य की तरफ़दारी करने वाला मानववाद है। वह अमानुषीय भावनाओं को देखकर चुप नहीं रहता। प्रेमचन्द खुल्लम-खुल्ला अपना उद्देश्य घोषित करते हैं कि ऐसी भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाय, वह थोड़ी है। वह सोद्देश्य साहित्य के समर्थक हैं। 'कला कला के लिए' या निरुद्देश्य साहित्य से उनका वैर है। वह भावनाओं और व्यक्ति में भेद करते हैं लेकिन स्वयं उनके उपन्यास अन्याय ही नहीं अन्यायी के प्रति भी घृणा करना सिखाते हैं। ज्ञानशंकर के चरित्र से कौन सा पाठक क्रोध से विचलित नहीं हो उठता? ज्ञानशंकर को अलग रखकर उसका क्रोध कब सूक्ष्म भावनाओं पर केन्द्रित होता है? विचार-क्षेत्र में प्रेमचन्द अन्याय और अन्यायी में भेद करते हैं; इस तरह का भेद अस्वाभाविक है और साधारण की प्रकृति के विरुद्ध है। असल में, अपने उपन्यासों में वह अन्यायी और अत्याचारी से घृणा करना सिखाते हैं, जो उचित ही है।

प्रेमचन्द सोद्देश्य साहित्य के हामी थे लेकिन हर किसी तरह के उद्देश्य के नहीं। जैसा कि उन्होंने सन् '३० में 'विशाल भारत' में घोषित किया था—"मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शौहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ; लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता-प्राप्ति ही हो।" (हंसराज रहबर द्वारा 'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' में उद्धृत)।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य का उद्देश्य घोषित किया था—स्वतंत्रत

प्राप्ति। वह स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक-साहित्यकार थे। अगर वह सोचते कि स्वाधीनता-प्राप्ति तो क्षणिक ध्येय है, जब आजादी मिल जायगी तब मेरी किताबों को कौन पूछेगा, यह उद्देश्य मुझे प्रगतिशील तो बनायगा लेकिन यह प्रगतिशीलता किसी खास जमाने में बँधकर रह जायगी, इसलिए मुझे साहित्य का ऐसा उद्देश्य ढूँढ निकालना चाहिए जो व्यास और वाल्मीकि के लिए भी सच रहा हो और मेरे लिए भी सच हो, इसलिए मुझे ऐसा साहित्य रचना चाहिए जिससे अंग्रेज भी खुश रहें, पंडे-पुजारी, जमींदार और महन्त भी खुश रहें—प्रेमचन्द अगर इस तरह सोचते तो वह स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक-साहित्यकार न बन पाते, वह हिन्दुस्तानी जनता की जिन्दगी में नई हरकत न पैदा कर पाते, वह हमेशा के लिए जनता के हृदय में अपना अपूर्व स्थान न बना पाते। उनका उद्देश्य सामयिकता, देश-काल की विशेषता से परे नहीं था; उनका साहित्य सामयिकता की सतह को छूने वाला साहित्य नहीं था, उसमें गहराई से डूबने वाला, देश-काल की विशेषताओं के परस्पर संबंध को चित्रित करने वाला साहित्य था। इसीलिए वह इतना सशक्त और प्रभावशाली है।

प्रेमचन्द इस बात के कायल नहीं थे कि मनुष्य जो कुछ भी अनुभव करे, उस पर लिखे। साहित्य में अनुभूति की दुहाई देना दूसरे शब्दों में निरुद्देश्यता की घोषणा करना है। कविता निरुद्देश्य होती है कि सोद्देश्य, इस बात का जवाब देते हुए मई '३६ के 'हंस' में प्रेमचन्द ने लिखा था—"इसलिए यह कहना कि कविता का कुछ उद्देश्य ही नहीं होता और उसको उपयोगिता के बन्धन में बाँधना ग़लती है, एक सार-हीन बात है।" कवि किसी को क्यों रुलाता है और क्यों हँसाता है, इस बात का जवाब देते हुए उन्होंने उसी टिप्पणी में लिखा था—"उसका उद्देश्य है, हमारी करुण भावनाओं को उत्तेजित करना, हमारी मानवता को जगाना और यही उसकी उपयोगिता है; मगर हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं। अगर उसने अपनी प्रेयसी के नख-शिख के बखान में वाणी का चमत्कार दिखाया है, तो हम देखेंगे कि उसने किन भावों से प्रेरित होकर यह रचना की है। अगर

उससे हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है. हममें सौंदर्य की भावना सजग होती है, तो उसकी रचना ठीक, वरना गलत ।'"

प्रेमचन्द के ये विचार नई पीढ़ी का मार्ग-दर्शन करते हैं। उनका महत्त्व जितना सन् '३६ में था, उससे कहीं ज्यादा आज है। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने के लिए कई बुद्धिजीवी तरह-तरह के अनगढ़ तर्क पेश करते हैं। कोई कहता है, सामयिक उद्देश्य से साहित्य को बाँध देना उसकी चिरन्तन प्रगतिशीलता को खत्म कर देना है। कोई कहता है, साहित्यकार को सच्ची अनुभूति के अनुसार लिखना चाहिए, उद्देश्य की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। इन सज्जनों के तुमुल कोलाहल में प्रेमचन्द की दृढ़ आवाज़ सुनाई देती है—"मगर हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं।"

प्रेमचन्द ने सौंदर्य की भावना के सजग होने की बात लिखी थी। इस सौंदर्य की भावना के नाम पर कुछ दूसरे साहित्यकार अपने सामाजिक उद्देश्य से आँख चुराना चाहते हैं। लेकिन "घृणा के प्रचारक प्रेमचन्द" का सौंदर्य इतना व्यापक नहीं था कि उसमें उच्च वर्गों का मनोरंजन करने वाला, जनता को बरगलाने वाला काम-साहित्य भी समेट लिया जाय। मई सन् '३६ के ही 'हंस' में 'भारतीय साहित्य परिषद्' नाम की टिप्पणी में उन्होंने लिखा था—"जो लोग दुनिया को अपनी मुट्ठी में बन्द किये हुए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है; पर जहाँ फाका है और नग्नता है और पराधीनता है, वहाँ का साहित्य अगर नंगी कामुकता और निर्लज्ज रति-वर्णन पर मुग्ध है, तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ, और शायद दो-चार सदियों तक उसे गुलामी में और बसर करनी पड़ेगी।"

प्रेमचन्द जब सौंदर्य की भावना को सजग करने की बात कहते हैं, तब उनका मतलब दिमागी ऐयाशी और रीतिकालीन नायिका-भेद से नहीं होता। वह इस तरह के सौंदर्य-साहित्य की जोरदार भर्त्सना करते हैं। उनका मतलब सौंदर्य की उस भावना से है, जो जन-साधारण के हृदय में है,

जिसके सजग होने पर मनुष्य पराधीनता के घिनौनेपन को पहचान लेता है और उसे दूर करने के लिए युद्ध करता है।

प्रेमचन्द कथाकार ही नहीं थे, पत्रकार भी थे। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी-साहित्य की परंपरा में यह बात ध्यान देने की है कि हमारे सभी बड़े साहित्यकार पत्रकार भी थे। पत्रकारिता उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी। यह पत्रकारिता एक सजग और लड़ाकू पत्र-कारिता थी, जो देश-विदेश के घटना-क्रम में दखल देती थी, जनता के जीवन और साहित्यकार के परस्पर संबंध को मजबूत करती थी।

प्रेमचन्द अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की देख-भाल रखते थे और अपने देश की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए उस पर टीका-टिप्पणी करते थे। 'सोवियत रूस में प्रकाशन' नाम की टिप्पणी में उन्होंने सन् '२७ तक के आँकड़े देते हुए लिखा था—"रूस की जनसंख्या १२ लाख के लगभग है। इस जनसंख्या के लिए लगभग ८ करोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुईं।" फिर हिन्दु-स्तान के लोगों की उदासीनता और उनकी गुलामी का ज़िक्र करते हुए उन्होंने लिखा था—"यहाँ १९३० में अंग्रेजी में २३३२ पुस्तकें, और हिन्दुस्तानी भाषाओं में १४८१५ पुस्तकें निकलीं। कहाँ ८ करोड़ और कहाँ १५ हजार।" प्रेमचन्द ने इस स्थिति के लिए ग़रीबों को दोषी नहीं ठहराया, क्योंकि "यहाँ साहित्य से थोड़ा-बहुत जो प्रेम है वह उन्हीं को है जो अभाव से पीड़ित हैं।" उन्हें क्रोध आया है संपत्तिशाली लोगों की विरक्ति पर। उनका कहना है—"अगर हममें विरक्ति की यह भावना न होती तो आए दिन हमारे आंदोलनों का बासी कढ़ी के उबाल का-सा हाल न होता।" दुनिया की गतिविधि देखकर प्रेमचन्द इस नतीजे पर पहुँच रहे थे कि जिस आन्दोलन में संपत्तिशाली वर्गों का नेतृत्व होगा, उसका नतीजा बासी कढ़ी में उबाल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए इस टिप्पणी में उन्होंने सोवियत प्रकाशन के आँकड़े देते हुए इन वर्गों की विरक्ति की आलोचना की है। साम्राज्यवादी पराधीनता, अंग्रेजी राज्य की हकीकत प्रेमचन्द के दिये हुए आँकड़ों से जाहिर हो जाती है—पैंतीस करोड़ हिन्दुस्तानियों के लिए

सिर्फ़ १५ हज़ार किताबें !

प्रेमचन्द सोवियत् साहित्य के प्रकाशन-संबंधी आँकड़ों ही से प्रभावित न थे; वह रूसी साहित्य का आदर करने वाले प्रमुख भारतीय साहित्यकार थे। यह ध्यान देने की बात है कि प्रेमचन्द ने हत्या और बलात्कार के साहित्य की निन्दा करते हुए रूसी साहित्य को उससे श्रेष्ठ ठहराया था। 'रूसी साहित्य और हिंदी' नाम की टिप्पणी में उन्होंने लिखा था—"एक समय था कि हिन्दी में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। हिन्दी और उर्दू दोनों ही रेनाल्ड की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने को धन्य समझ रही थीं। डिकेंस, थैकरे, लैम्ब, रस्किन आदि को किसी ने पूछा तक नहीं; पर अब जनता की रुचि बदल गई, और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी, जिना और डाके आदि के वृत्तान्तों में आनन्द पाते हैं; लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार अवश्य हुआ है और रूसी साहित्य से कुछ लोगों को रुचि हो गई है।"

प्रेमचन्द ने यहाँ पर साफ़-साफ़ शब्दों में पश्चिम के पतित पूँजीवादी साहित्य की निन्दा की है। उन्होंने डिकेंस आदि जनवादी साहित्यकारों को रेनाल्ड्स की परंपरा से अलग करके दिखलाया है। डाके और ज़िनाकारी के साहित्य की वह निन्दा करने वालों में से थे। लेकिन उनकी मृत्यु को छः साल भी नहीं बीते, डाके और जिनाकारी का साहित्य रंगीन कवर वाली किताबों में छपकर एक बड़ी तादाद में हिन्दुस्तान आने लगा है। यही नहीं, कुछ कलाकार जब तक जिनाकारी का वर्णन न कर लें, तब तक उनकी दशा "रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं" की-सी रहती है। इस तरह का साहित्य प्रेमचन्द की परंपरा पर पानी फेरता है और जनता को बरगलाकर गुलामी में दिन बसर करना सिखलाता है। इस साहित्य के विरुद्ध प्रेमचन्द ने रूसी साहित्य का अभिनन्दन किया था। लेकिन उसी रूसी साहित्य पर आज तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगाई जा रही हैं। प्रेमचन्द जिस साहित्य से जन-रुचि का परिष्कार देखते थे, उसी साहित्य से कुछ लोगों को अपना अमंगल होता दिखाई देता है। और जिनाकारी के साहित्य के बारे में

तो वह "तटस्थ" हैं !

अपनी टिप्पणी के अन्त में प्रेमचन्द ने लिखा था—"जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया जिस पर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यों न आदर पायँ ?"

प्रेमचन्द ने यह कल्पना न की थी कि हिन्दुस्तान के कुछ 'जनवादी' लेखक अमेरिका में जनतंत्र का सच्चा रूप देखेंगे और रूस में उन्हें जनता गुलाम दिखाई देगी या यहाँ के कुछ देश-भक्त साम्राज्यवाद और समाजवाद के बीच "तटस्थ" रहकर ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहना पसन्द करेंगे। प्रेमचन्द न तो ऐसे जनवादी थे, न ऐसे देशभक्त।

अमरीकी जनतन्त्र की असलियत प्रेमचन्द की 'अमेरिका में कृषक-विद्रोह' नाम की टिप्पणी में ज़ाहिर हो गई है। आर्थिक संकट से किसानों की तबाही का ज़िक्र करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—"बरसों तक बेचारे अमेरिकन किसान गवर्नमेंट से सहायता की आशा करते रहे। गवर्नमेंट ने उनके उद्धार का प्रयत्न किया ; पर ये सभी प्रयत्न असफल हो गए। अब मजबूर होकर उन्होंने अपने उपायों से काम लेना शुरू किया है, और यह उपाय ज्यादा सफल हो रहे हैं। उन्होंने गुट बाँधकर कई शहरों की सड़कों की नाकाबन्दी कर दी और देहातों से जो सामान नगर में आता था उसे रोक दिया। जहाँ ज़रूरत पड़ी, वहाँ पशु-बल से भी काम लिया। इसमें उन्हें पूरी सफलता तो नहीं मिली, पर वे बिलकुल असफल भी न रहे।"

जहाँ पर मंदी की वजह से किसान भूखे मरते हों, वहाँ की शासन-व्यवस्था को प्रेमचन्द जनवादी कैसे मान लेते ? इसीलिए वह रूस और अमरीका के बीच तटस्थ नहीं थे बल्कि तथ्य देकर दोनों की संस्कृति पर प्रकाश डालते थे।

और न प्रेमचन्द अपने ज़माने के ख़ूनी फ़ासिस्टवाद-हिटलरवाद के बारे में तटस्थ थे। हिटलर द्वारा नाज़ी नेताओं की हत्या पर 'हिटलर की तानाशाही' नाम की टिप्पणी लिखते हुए प्रेमचन्द ने हिटलर का सही हुलिया भी बयान कर दिया था—"हिटलर ने जर्मनी के पूँजीपतियों

के हाथ की कठपुतली बनकर कुछ समय पूर्व यहूदियों पर जो अत्याचार किया था, उसी से उसकी ख्याति संसार में हो गई और अब इस क्रूर कर्म ने तो विद्युत्-प्रकाश डालकर उसके हृदय का रगरेशा तक साफ-साफ दिखला दिया है।" प्रेमचन्द उन देश-भक्तों में नहीं थे जो हिटलर को साम्राज्य-विरोधी समझते थे या उसे हिन्दुस्तान-जैसे गुलाम देशों का उद्धारक मानते थे। हिटलर पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली था—प्रेमचन्द ने उसके बारे में यह अपना स्पष्ट मत दे दिया था।

न प्रेमचन्द उन देश-भक्तों में से थे जिन्होंने जापान से आशाएँ बाँध रखी थीं। 'आतंकवाद का उन्मूलन' नाम की टिप्पणी में उन्होंने लिखा था—"आज भारतवर्ष के द्वारा समस्त यूरोप अपने-अपने खजाने भर रहा है, जापान अपनी जेबें गरम कर रहा है। सभी मालामाल हो रहे हैं, और भारतीय बच्चे भूखे तड़प रहे हैं।" प्रेमचन्द विश्व-शान्ति के सजग प्रहरी थे। वह युद्ध के लिए अग्रसर होने वाली ताकतों—जापान और जर्मनी को पहचान गए थे। वह अमरीकी जनतन्त्र की असलियत से बेखबर नहीं थे। और साम्राज्यवाद और सोवियत रूस के बीच में तटस्थ नहीं थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता को एकत्र करने वाले वह एक कर्मठ साहित्यकार थे।

सितम्बर १९३६ के 'हंस' में—अपने जीवन-काल में निकलने वाले 'हंस' के आखिरी अंक में—प्रेमचन्द का 'महाजनी सभ्यता' नाम का लेख छपा है। यह लेख प्रेमचन्द की प्रखर होती हुई क्रान्तिकारी चेतना का सबूत है। इसमें उन्होंने तमाम दुनिया के मनुष्य-समाज को दो हिस्सों में बँटा हुआ दिखाया है—"बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय।"

महाजनी सभ्यता में मनुष्यता को व्यापार और मुनाफे की वेदी पर किस तरह कुर्बान किया जाता है, इसकी मार्मिक व्याख्या करने के बाद प्रेमचन्द ने पूँजीवाद को खत्म करने वाली सोवियत रूस की नई सभ्यता के बारे में लिखा था—"परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है।" इस नई सभ्यता के खिलाफ दुनिया के महाजन किस तरह झूठा प्रचार कर रहे थे, प्रेमचन्द उससे बेखबर न थे, उन्होंने इस झूठ का पर्दा-फाश करना अपना कर्तव्य समझा। साम्राज्यवादी युद्धों की जड़ झूठ है। झूठे प्रचार के बिना लोगों को बरगलाकर युद्ध की भट्टी में नहीं झोंका जा सकता। प्रेमचन्द ने सोवियत-विरोधी झूठे प्रचार का पर्दा-फाश करके एक सच्चे शान्ति-प्रचारक का काम किया। उन्होंने खासकर इसी मसले को लिया कि सोवियत रूस में आज़ादी है या नहीं। उन्होंने नई सभ्यता के मूल सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए कहा—"जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य-प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी, वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले-से-काले रंग में रँगी जा रही है, कुत्सित-से-कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से, जो पैसे वालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का

उजाला फैला रही है।"

कैसे जोरदार शब्दों में प्रेमचन्द ने साम्राज्यवादी प्रचार का पर्दा-फ़ाश किया है ! कितनी दृढ़ता और विश्वास के साथ सत्य और मनुष्य के भविष्य का पक्ष लिया है ! इन शब्दों को पढ़कर कौन कह सकता है कि महीनों के रोग से जर्जर शरीर वाले, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए प्रेमचन्द ने उन्हें लिखा होगा ? जिस सचाई ने अन्धकार को चीरकर दुनिया में उजाला फैलाया था, उसने प्रेमचन्द के हृदय में आशा और उत्साह का ज्वार पैदा कर दिया था। प्रेमचन्द के एक तरफ़ मौत और अन्धेरा था, तो दूसरी तरफ़ यह सचाई और प्रकाश। मनुष्य के बल और बुद्धि में, उसके पुरुषार्थ में उनकी आस्था और दृढ़ हो गई थी। इसीलिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य की आड़ लेकर सोवियत रूस पर कीचड़ उछालने वालों को उन्होंने रगेद मारा था।

प्रेमचन्द ने साम्राज्यवादी प्रचारकों को ललकारते हुए लिखा था—"निःसन्देह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं है कि अपने नफ़े के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराये।"

साम्राज्यवादियों के "व्यक्ति-स्वातंत्र्य" का सम्बन्ध कितना ज्यादा युद्ध की तैयारियों से होता है, किस तरह उनकी स्वाधीनता चीज़ों के दाम बढ़ाकर मुनाफा कमाने की आज़ादी है, उनकी स्वाधीनता दूसरे देशों को गुलाम बनाने की आज़ादी है—प्रेमचन्द ने अपने इस ओजपूर्ण लेख में तथ्य को अच्छी तरह ज़ाहिर कर दिया। उन्होंने दिखलाया कि इस लूट-मार की आज़ादी के बदले सोवियत रूस में जनता की खुशहाल और सुसंस्कृत ज़िन्दगी बसर करने की सच्ची आज़ादी है।

प्रेमचन्द ने मानो आज के हिन्दुस्तान को देखते हुए लिखा था—"हाँ,

समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन-
ारण को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह-
ह के बहानों से उनकी मेहनत का फ़ायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त
के मोटी-मोटी रकमें उड़ाये और मूंछों पर ताव देता फिरे।" प्रेमचन्द
आज़ादी के विरोधी थे जिसके ज़रिये मुट्ठी-भर लोग जनता को ठग-
अपना घर भरते हैं और जब जनता असंतुष्ट होकर अपनी माँगें पूरी
ाने के लिए संगठित होती है, तब उसे शान्ति और अहिंसा के उपदेश
हैं।

अपने लेख के अन्त में प्रेमचन्द ने इस दलील को भी लिया था कि यह
यता विदेशी है, इसलिए हम उससे अपना दामन बचाकर चलेंगे।
होंने अपना यह तर्क दिया था कि एक समाज-व्यवस्था से अगर किसी एक
ा के लोगों का भला हो सकता है, तो दूसरे देशों का क्यों नहीं हो सकता?
होंने ईसाई और बौद्ध मतों की मिसाल देते हुए लिखा था—"जो
सन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह
रे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके मुरगे
नी शक्ति-भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का
ार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उसकी आँखों में धूल झोंकेंगे,
जो सत्य है, एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।"

इस तरह सत्य और झूठ के संघर्ष में प्रेमचन्द ने सत्य का पक्ष लिया
र महाजनी सभ्यता के मुरगों की दलीलों को निस्सार साबित कर दिया।
स समय उन्होंने यह लेख लिखा था, फ़ासिस्ट जर्मनी सोवियत-विरोधी
ार की वैसी ही धूम बाँधे हुए था जैसा आज अमरीका। प्रेमचन्द ने इस
प्रचार का भंडा-फोड़ करके शान्ति के पक्ष को मजबूत किया, हिन्दी
ाकों की अन्तर्राष्ट्रीयता और उनकी स्वाधीनता-प्रेमी चेतना को और
ष्कृत किया।

प्रेमचन्द का झुकाव शुरू से ही यथार्थ जीवन की तरफ़ था। दिन-पर-
उनके यथार्थवादी चित्रण में गहराई आती गई। 'जीवन में साहित्य का

स्थान' नाम के लेख में उनका पहला ही वाक्य है—"साहित्य का आधार जीवन है।" साहित्य का आधार कल्पना नहीं है, उसका स्रोत मनुष्य का अवचेतन नहीं है, बल्कि उसका जीवन है। साहित्य की अटारियों, मीनारों और गुम्बदों की नींव, प्रेमचन्द के शब्दों में, "मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है।" उन्होंने इस लेख में आनन्द और सुन्दर के स्वाभाविक और बनावटी रूपों में भेद किया है। महलों में स्वाभाविक सुन्दरता और आनन्द के दर्शन नहीं होते। श्रृंगार को सुन्दर का पर्यायवाची मानते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—"साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है।" उनका मतलब उस श्रृंगार से नहीं है जो आम तौर से उसके अर्थ में समझा जाता है; फिर भी उनका ज़ोर आनन्द पर है और वह कहते हैं—"और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है।" फिर जीवन की व्याख्या करते हुए वह पशुओं से मनुष्य का भेद इस बात में बतलाते हैं कि मनुष्य में अच्छी बुरी मनोवृत्तियाँ होती हैं।

इस लेख में प्रकट किये हुए अनेक विचार "कला कला के लिए" वाले सिद्धान्त से बहुत मिलते-जुलते हैं। यदि साहित्य का विषय केवल आनन्द है, तो विषय-वस्तु का उतना महत्त्व नहीं रहता जितना आनन्द का। यदि मनुष्य और पशु का आपसी भेद मनोवृत्तियों का है, तो साहित्य की मीनारों की नींवें मिट्टी के नीचे दबी पड़ी हैं, यह बात बेमानी हो जाती है। लेकिन प्रेमचन्द इसी लेख में आगे कहते हैं—"साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"

प्रेमचन्द ने इस समाचार का खुद अच्छी तरह समाधान कर दिया है कि साहित्य का सम्बन्ध किसी चिरन्तन आनन्द और सुन्दरता से है या किसी युग की परिस्थितियों से। अगर साहित्यकार 'कला कला के लिए'

का सिद्धान्त मानकर चलता है, तो उसके लिए देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठने का सवाल नहीं उठता। साहित्यकार की विशेषता यह है कि वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। आज तक कोई ऐसा साहित्यकार नहीं देखा गया जो स्वदेश का हुए बिना सार्वभौमिक बन गया हो। इसलिए यह कहना भी ग़लत न होगा कि साहित्यकार स्वदेश का होकर ही सार्वभौमिक रहता है। प्रेमचन्द की रचनाएँ स्वयं इस सत्य की मिसाल हैं। वह स्वदेशपन में डूबी हुई हैं; उनका रचयिता अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठा है। उसकी महत्ता का यही सबसे बड़ा कारण है।

प्रेमचन्द साहित्य की उपयोगिता का सवाल उठाते हैं। कहते हैं—"जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है।" प्रेमचन्द यह नहीं मानते कि मनुष्य का स्वभाव बदल नहीं सकता। स्वभाव बदलता है और साहित्य उसे बदलने का साधन है। साहित्य का किसी देश की जनता और उसके चरित्र की विशेषताओं से क्या सम्बन्ध है इस पर वह कहते हैं—"विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य।" प्रेमचन्द की यह धारणा साम्राज्यवादियों के इस प्रचार का खंडन करती है कि साहित्य की राष्ट्रीय या जातीय विशेषताएँ नहीं होतीं। अमरीका और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी और उनके भाड़े के लेखक विश्व-संस्कृति और विश्व-सरकार की लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं। वे दूसरे देशों को गुलाम बनाते हैं, उनकी भाषा और संस्कृति को दबाते हैं, उनके जातीय चरित्र को नष्ट करते हैं। इस निन्दनीय काम को छिपाने के लिए विश्व संस्कृति की बातें नकाब का काम करती हैं। प्रेमचन्द-साहित्य की इमारत हवा में खड़ी न करके उसकी नींव धरती में मानते हैं; वह उसे देश की आत्मा की प्रतिध्वनि कहते हैं। उनका देश, जैसा कि इस लेख से ही जाहिर है, महलों में बन्द नहीं है; देश का मतलब देश की साधारण जनता से है।

यूरोप के पतित पूँजीवादी साहित्य की तरफ से प्रेमचन्द ने यहाँ भी

पाठक को आगाह किया है। खूनी कांडों के प्रदर्शन और जासूसी कमाल की निन्दा की है। उनके अनुसार सामाजिक आदर्श साहित्य से उत्पन्न होते हैं। इसलिए वह साहित्यकार का दर्जा बहुत ऊँचा मानते हैं।

किसी जाति के चरित्र-निर्माण में साहित्य का कितना बड़ा हाथ रहता है, प्रेमचन्द इस बात को जानते थे। इसलिए वह अपनी सांस्कृतिक विरासत की कद्र करते थे। उन्होंने 'रामायण' और 'महाभारत' के रचयिताओं के बारे में लिखा था—"व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई।" लेकिन व्यास और वाल्मीकि के सामने सिर झुकाते हुए प्रेमचन्द ने उनके चरणों में कलम नहीं रख दी। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह सांस्कृतिक विरासत ही प्रगतिशील साहित्य है, इसलिए या तो मैं कुछ लिखूंगा नहीं या लिखूंगा तो देश-काल की सीमाओं के ऊपर उठकर शाश्वत सौन्दर्य के सिद्धान्तों के अनुसार लिखूंगा। वह मानते थे कि "साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है।" इसलिए इस परम अशाश्वत काम को पूरा करने के लिए वह कमर कसकर जुट गए। प्रेमचन्द का साहित्य राष्ट्रीय उत्थान का साहित्य है; वह भारत की नवजाग्रत मानवता और उसके आत्म-सम्मान का साहित्य है। उन्होंने वाल्मीकि, व्यास, तुलसी, सूर और कबीर से साधना करना, अपने देश और अपनी संस्कृति की उन्नति के लिए कष्ट सहना सीखा था। उन्होंने भारत के इन अमर कवियों के बारे में लिखा था—"वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे।" प्रेमचन्द इन तपस्वियों की विरासत को आगे बढ़ाने वाले साहित्यकार थे; वह बीसवीं सदी में भारतीय संस्कृति का एक नया आगे बढ़ा हुआ चरण थे।

प्रेमचन्द अपने देश की संस्कृति के उपासक थे, उसका परिष्कार करके उसे आगे विकसित करना चाहते थे, इसलिए वह दूसरे देशों और जातियों की संस्कृति को घृणा की दृष्टि से न देखते थे। उन्होंने इंग्लैण्ड, फ्रांस

रूस आदि के साहित्य का, विशेष रूप से वहाँ के कथा-साहित्य का, गम्भीर अध्ययन किया था। फ्रांसीसी कथाकारों में वह बाल्ज़ाक और मोपाँसा को बहुत ऊँचे दर्जे का कलाकार मानते थे। रूसी भाषा में तोल्स्तोय की कहानियाँ उन्हें विशेष प्रिय थीं। दोस्तोयेव्स्की के बारे में उन्होंने ठीक कहा था कि उसकी कहानियों में "मनोभावों की दुर्बलता दिखाने की चेष्टा की गई है" लेकिन ग़लद चेखोव के बारे में उन्होंने अत्युक्ति की है कि उसकी कहानियों में "रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं।"

प्रेमचन्द का विचार था कि हिन्दुस्तान में कहानी-कला यहाँ की परम्पराओं, यहाँ की विशेषताओं को देखते हुए विकसित हो। मित्रों की बातचीत से या पुलिस-कोर्ट के दृश्य से कहानी शुरू करना वह गलत समझते थे। डायरी और टिप्पणियों द्वारा कहानी लिखने को उन्होंने यूरोप वालों की नकल करना कहा था। जिन कहानियों का कोई अन्त न हो, उन्हें भी वह बुरा समझते थे। कहानी में वह कहानीपन के पक्षपाती थे। उनका विचार था कि कहानी के साथ यह अनुचित व्यवहार यथार्थवाद के नाम पर होता है; इसलिए कथाकार को आदर्शवादी होना चाहिए। लेकिन यथार्थवादी कलाकार के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह कहानी को बिगाड़ दे और न सभी आदर्शवादी कलाकार उसे सँवार ही लेते हैं। प्रेमचन्द स्वयं यथार्थवादी लेखक थे, लेकिन उका उनका यथार्थवाद फोटो खींचकर चुप रह जाने वाला यथार्थवाद नहीं था। वह एक उद्देश्य लेकर चलने वाले कलाकार थे। 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में वह क्रान्तिकारी यथार्थवाद के जन्मदाता के रूप में हमें नज़र आते हैं।

प्रेमचन्द बहुत सी असंगतियों के बीच से गुज़रते हुए क्रान्तिकारी यथार्थवाद की तरफ आ रहे थे—एक ऐसे यथार्थवाद की तरफ, जो जीवन का सही चित्र देते हुए पाठक में अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलने की एक नया जनवादी और स्वाधीन जीवन-निर्माण करने की प्रेरणा भी दे। प्राचीन अध्यात्मवाद का प्रभाव जहाँ-तहाँ उन पर दिखाई देता है, लेकिन

क्रमशः वह क्षीण होता जाता है। कहानी-कला-सम्बन्धी एक लेख में वह कहते हैं—"मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।"

मनुष्य अपने को समझे—यह धारणा इस अर्थ में सत्य नहीं है कि मनुष्य में अखंड सत्य छिपा हुआ है और उसे केवल समझना बाकी रह गया है। मनुष्य का अपने को समझना उसके भौतिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। इस विकास-क्रम में मनुष्य अपने को समझता ही नहीं है, अपने को परिवर्तित भी करता है। कहानी-कला-सम्बन्धी एक और दूसरे लेख में वह कहते हैं—"कितने ही सिद्धान्त, जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गए हैं, पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता।" (प्रेमचन्दः 'कुछ विचार', पृष्ठ ६७)। अगर मनोभावों में कभी परिवर्तन न हो तो कहानियों की विषय-वस्तु बहुत-कुछ आज भी वही हो जो चार हज़ार साल पहले थी। जैसे लड़का बड़ा होकर खुद किसी बच्चे का बाप बनता है, फिर बूढ़ा होकर बाबा कहलाता है तो लड़कपन की मंज़िल को पार कर लेने के बाद भी न तो उस लड़के का सिर काटकर फेंक देता है, न कहीं उसकी हड्डियों के ढाँचे को फेंक आता है। वह बाबापन की मंज़िल तक पहुँचते-पहुँचते लड़कपन से जुड़ा भी रहता है और उससे जुदा भी हो जाता है। यही बात साहित्य के विकास के साथ भी होती है। प्रेमचन्द का साहित्य बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान का साहित्य है। 'कथा सरित् सागर' या 'अलिफ़ लैला' की दुनिया में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी वह 'कथासरित् सागर' और 'अलिफ लैला' की दुनिया से किन्हीं बातों में जुड़ा भी हुआ है और बिना उन कथाओं के प्रेमचन्द की नई रचनाओं की भी कल्पना करना कठिन होगा। वे रचनाएँ ऐसे समाज की

उपज हैं जो 'कथासरित् सागर' और 'अलिफ़ लैला' के ज़माने को बहुत पीछे छोड़ आया है हालाँकि उस जमाने के कुछ संस्कार अब भी बाकी है। इसलिए यह कहना सही न होगा कि मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता।

उपन्यास-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में प्रेमचन्द कहते हैं—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" (प्रेमचन्द:'कुछ विचार' पृष्ठ ७१)। इस लेख में उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि चरित्र विकासमान हो या अपरिवर्तनशील। यहाँ वह उपन्यासकारों को दो दलों में बाँट देते हैं। एक दल उन लोगों का है जो यथार्थ को नग्न रूप में रख देता है; दूसरा दल उन लोगों का है जो गर्म कोठरी में काम करते-करते थकने वालों को बाग़ में ले जाकर निर्मल स्वच्छ हवा खिलाता है। फिर वह आदर्शवादियों के लिए इस खतरे की शंका प्रकट करते है कि उनके पात्र सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र न बन जायँ। इसलिए उनकी राय में ऊँचे दर्जे के उपन्यास वे हैं जिनमें आदर्श और यथार्थ का समावेश हो गया हो। प्रेमचन्द का यह समन्वयवाद उन्हें "कला कला के लिए" सिद्धान्त के बहुत नज़दीक खींच लाता है। जब हमारा उद्देश्य गर्म कोठरी में काम करने वाले को बाग़ की हवा खिलाना हो जाता है, तब हम उससे यह भी कहे बिना नहीं रहते, कुछ देर के लिए कोठरी को भूल जा, आखिर तो उसी में तुझे सड़कर मरना है, यहाँ बुलबुल के तराने भी सुन ले। नग्न यथार्थवाद ग़लत चीज़ है; यथार्थवाद को सोद्देश्य होना चाहिए लेकिन बाग़ में हवा खिलाने से तो यथार्थवाद की जड़ ही कट जाती है, उसे सोद्देश्य बनाने का सवाल ही नहीं उठता। (यहाँ पर बाग़ का प्रयोग आलंकारिक है; इसका यह मतलब नहीं है कि बाग़ की सैर करना यथार्थवाद की हत्या करना है)।

प्रेमचन्द इसी निबन्ध में आगे कहते हैं—"साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य

चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो;" इत्यादि। इस धारणा का यहाँ खंडन करना ज़रूरी नहीं है; प्रेमचन्द का समूचा साहित्य उसका खंडन करता है। उसकी तरफ़ ध्यान दिलाना सिर्फ इसलिए ज़रूरी है कि हम उनके विचारों की असंगतियों को भी समझ सकें और उनके हरेक वाक्य को वेद-वाक्य मानकर न दोहराने लगें।

इसी लेख में प्रेमचन्द कहते हैं—"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय दहल न उठे! हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये; अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।"

देश के सुखी और सम्पन्न होने की दशा से 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को बाँधकर प्रेमचन्द ने उसकी सनातनता को खत्म कर दिया है। वह अपने ज़माने के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों की तरफ़ देखते हैं और अपनी पिछली विचार-धारा को चुनौती देते हुए कहते हैं—यह कैसे संभव है कि इन्हें देख-सुनकर किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? प्रेमचन्द को एक तरफ सामन्ती पूँजीवादी विचार-धारा खींचती है—साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना कला की पूर्ति के लिए की जाय। दूसरी तरफ उनकी सहृदयता, उनका सामाजिक ज्ञान उन्हें साहित्य से समाज को बदलने की तरफ खीचता है—इस अन्याय को देखकर किस विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठेगा?

इस द्वंद्व को वह विचार-जगत् में उतना हल नहीं कर पाये जितना अपने

कथा-साहित्य के रचनात्मक संसार में। वहाँ उनके सामने जीवन के परिचित पात्र रहते थे जो अपने जीवन की वास्तविक समस्याओं का समाधान चाहते थे। प्रेमचन्द ने उन्हें भी एकाध बार 'प्रेमाश्रम' के सपनों से बहलाया, लेकिन उनकी चली नहीं। उनकी कला पर दिन-पर-दिन यथार्थवाद का रंग चढ़ता गया और उनका साहित्य राष्ट्रीय और जातीय उत्थान का साहित्य बन गया।

प्रगतिशील साहित्य और भाषा की समस्या

अप्रैल १९३६ के 'हंस' में प्रेमचन्द ने अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के बारे में एक संपादकीय टिप्पणी लिखी है, जिसमें वह कहते हैं—"जैसा इसके नाम से जाहिर है, संघ उस साहित्य और कला-प्रवृत्ति का पोषक है, जो समाज में जागृति और स्फूर्ति लाये, जो जीवन की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाले।"

मई १९३६ के 'हंस' में वह फिर उस पर एक टिप्पणी में कहते हैं—"इस संघ का उद्देश्य, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, साहित्य और कला में प्रगति पैदा करना, जीवन की यथार्थताओं का चित्रण करना और जनता के दुःख-सुख और कशम-कश की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति करके उस उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाना है, जिसके लिए आज विश्व का मानव-समाज कोशिश कर रहा है।"

सितम्बर १९३६ के 'हंस' में 'साहित्य में प्रगति का अर्थ' नाम की टिप्पणी में वह कहते हैं—"हमारे साहित्य को जनता के हृदय के साथ एक कर देने की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे वह सार्वजनिक जीवन से प्रेरित जनता की आत्मा के साथ जी सके।" फिर इसी टिप्पणी में प्रगतिशील लेखक संघ के बारे में वह कहते हैं—"गत नौ और दस अप्रैल को लखनऊ में उसने अपना वार्षिक अधिवेशन इन पंक्तियों के लेखक के सभापतित्व में मनाया था, जिसमें भारत के सभी प्रान्तों के कलाकारों ने भाग लिया था। यह निर्विवाद साहित्य में प्रगतिमान परिवर्तन का द्योतक था।"

प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में प्रेमचन्द का शामिल होना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उससे उनका सम्बन्ध एक अधिवेशन की सदारत कर देने-भर का न था। बीमारी और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद वह अपने स्वाभाविक उत्साह से इस आन्दोलन में हिस्सा लेने लगे थे। वह

समाज की प्रगति में बाधा डालने वाले साहित्य का संगठित होकर मुकाबला करने और समाज की प्रगति में सहायक होने वाले साहित्य का संगठित होकर प्रचार और प्रसार करने की आवश्यकता को अनुभव करने लगे थे।

प्रगतिशील लेखक-संघ की नींव डालने में प्रेमचन्द का सक्रिय सहयोग था। इस सिलसिले में 'हंस' के 'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' से अहमद अली की ये पंक्तियाँ उद्धरण करने योग्य हैं—

"दो दिन बाद वह चौदहवीं फरवरी आई जो इतिहास में लोगों को बहुत दिनों तक याद रहेगी। आगे चलकर जब कुछ बरसों के बाद हमारे साहित्य का इतिहास लिखा जायगा तब वह दिन एक विशेष महत्त्व का माना जायगा। उस दिन हम सब लोग अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन का संघटन करने के लिए फिर सज्जाद जहीर साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ मुन्शी प्रेमचन्द, मौलाना अब्दुल हक़ और मुंशी दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किये थे और हममें से नई पीढ़ी वाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कन्धों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्यिक आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था; और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जायँगे त्यों-त्यों जिनके कन्धों पर का यह भार बराबर बढ़ता जायगा। हम सब लोगों ने एकमत होकर 'प्रोग्रेसिव राइटर्सस एसोसिएशन' या 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करना निश्चित किया। मुं० दयानारायण निगम को इस सम्बन्ध में कुछ निराशा और सन्देह-सा हो रहा था; लेकिन प्रेमचन्द जी ने उस समय एक बहुत मार्के [illegible] कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस एसोसिएशन का आरम्भ कर रहे हैं।"

प्रेमचन्द ने देश की किन्हीं खास परिस्थितियों में प्रगतिशील लेखकों को उपयोगी समझा था। यह सन् '३६ का जमाना था जब कांग्रेसी नेता काले कानून के मातहत मंत्रि-मंडल बनाने की तैयारी कर रहे थे, जब किसानों और मजदूरों के अपने संगठन अधिक सक्रिय रूप से आगे आ रहे थे, जब

हिन्दी-साहित्य छायावाद और स्वयं प्रेमचन्द के के युग की देहरी पार करके एक नई मंजिल की तरफ़ क़दम उठा रहा था। प्रेमचन्द को जनता की ताकत और नये लेखकों की लगन में विश्वास था। इसीलिए उन्होंने उस अवसर को 'उपयुक्त' और 'शुभ' बतलाया था।

९ और १० अप्रैल को लखनऊ में होने वाले अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में प्रेमचन्द ने सभापति-पद से जो भाषण दिया था, वह उनके निबन्धों और भाषणों में ही श्रेष्ठ नहीं था, हिन्दी और उर्दू में प्रगतिशील साहित्य पर जितने भाषण और निबन्ध लिखे-पढ़े गए हैं, सभी में उसका अन्यतम स्थान है।

इस भाषण में उन्होंने रीतिकालीन साहित्य, सामन्ती परंपराओं और दरबारों की संस्कृति पर करारा हमला किया और जनता के साहित्य के लिए अपनी ज़बर्दस्त आवाज़ बुलन्द की। इस भाषण में उन्होंने सीधे-सीधे काम-शास्त्रियों और अध्यात्मवादियों को कड़ी फटकार बतलाई और अपना वह स्मरणीय वाक्य कहा—"ऐसे [illegible] तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं।" इस भाषण में उन्होंने सौंदर्य की कसौटी को बदल देने की माँग की; साहित्यकार से मैदान में आकर समाज का नेतृत्व करने के लिए कहा; उन्होंने नये साहित्य के लिए माँग की कि उसमें "उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचन्द के ज़माने में साहित्यकारों की कमी नहीं थी लेकिन उनमें से कितने ऐसे थे जो इस कसौटी पर खरे उतरते? इसीलिए प्रगतिशील लेखक संघ का संगठन करने की ज़रूरत थी।

प्रेमचन्द ने साहित्य की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग़ पर असर डालने

का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।" प्रेमचन्द जिस साहित्य का प्रसार चाहते थे, वह नई तरह का साहित्य था, जिसमें जीवन की सचाइयाँ प्रकट की गई हों। इस नये साहित्य से प्रेमचन्द उस पुराने साहित्य को अलग करते हैं जिसमें "तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों" से पाठक का मनोरंजन किया जाता था। ज़ाहिर है, इन कहानियों में भी जीवन की कोई-न-कोई सचाई ज़रूर झलकती थी, लेकिन उस सचाई से तो प्रेमचन्द सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। वह 'फ़िसानये अजायब' और 'बोस्ताने खयाल' की दुनिया के खोखलेपन की तरफ़ इशारा करते हैं। वह उस कविता का खंडन करते हैं जिसमें प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था। वह उन अनुभूतियों की व्यंजना के कायल नहीं थे जहाँ आशियाने, क़फ़स, बर्क और खिरमन की कल्पनाओं से पाठक और श्रोता दिल थाम लेते थे। उन्होंने शृंगारिक मनोभावों को मानव जीवन का अंग मानते हुए उन्हें देश-काल की आवश्यकताओं के लिए नाकाफ़ी बताया।

हिन्दी और उर्दू—दोनों ही की सामन्ती परंपराओं पर प्रेमचन्द ने आक्रमण किया। उन्होंने कहा—"क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी।" इन दरबारी काव्य-परंपराओं के विरुद्ध उन्होंने जन-रुचि को बदलता हुआ बताया। उन्होंने साहित्य के नये पाठक के लिए ठीक कहा कि वह "जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है।"

प्रेमचन्द ने साहित्य की उपयोगिता पर ज़ोर दिया। वह अपने ज़माने के पहले ऊँचे साहित्यकार थे, जिन्होंने अपनी दबंग आवाज में कहा—"मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।" उनके लिए उपयोगिता और सौन्दर्य-प्रेम में कोई वैर नहीं था। साहित्य जो उपयोगी काम करता है, वह सौन्दर्य-प्रेम के ही माध्यम से। लेकिन सौन्दर्य-प्रेम का मतलब क्या है? क्या साहित्यकार

यथार्थ जीवन के चित्रण से मुँह चुरा ले? प्रेमचन्द कहते हैं—"प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो-कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है।" आजकल के कुछ सौन्दर्य-प्रेमियों का यह हाल है कि उन्हें कुछ भी असह्य नहीं है, केवल साहित्य में उनके सामाजिक उत्तरदायित्व की याद दिलाना उन्हें असह्य है। देश में लोग भूखों मरें, संसार में युद्ध की आग सुलगाई जाय, जनता पर दमन-चक्र चले, जातियों की भाषा और संस्कृति को कुचला जाय, उनके शाश्वत सिद्धान्तों को आँच नहीं आती। उनका सौंदर्य-प्रेम ऐसा कमल है जिस पर जीवन का छींटा नहीं पड़ता और उसकी शाश्वत सुगन्ध से दिशाएँ महका करती हैं। प्रेमचन्द का सौन्दर्य-प्रेमी साहित्यकार दूसरी तरह का है। "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है।" प्रेमचन्द का तक़ाज़ा था कि लेखक जनता की तरफ़दारी करे। वह दलित और पीड़ित का साथ दे। उत्पीड़क और अत्याचारी का भी साथ दे या दोनों के बीच तटस्थ रहे, प्रेमचन्द इस मँझधारवाद के कायल नहीं थे। प्रेमचन्द जिस साहित्य का झंडा लेकर आगे बढ़ रहे थे, वह जनता की तरफ़दारी का साहित्य था।

प्रेमचन्द ने इस बात की तरफ़ से भी आगाह किया था कि जनता की वकालत का मतलब उसकी झूठी तारीफ़ करना नहीं है। उन्होंने अतिरंजना से बचने के लिए कहा। उन्होंने समाज की अदालत के सामने आने वाले साहित्यकार वकील को सलाह दी—"आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों।" उन्होंने कथाकार के लिए कहा—"वह कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए।" अक्सर होता यह है कि यथार्थ जीवन का अनुभव पास न होने पर साहित्यकार वास्तविकता का ध्यान छोड़कर शब्दों की झड़ी लगाकर अतिरंजना से जोश पैदा करने की कोशिश करता है। वह क्रांति की लपटों से दशों दिशाएँ लाल कर देता है, भूकंप और प्रलय से धरती-आकाश एक कर देता है, उसके वर्णन से जनता की दशा का तो पता नहीं

बल बाक़ी नहीं रहा।" इस वाक्य से बिलकुल साफ़ ज़ाहिर है कि प्रेमचन्द के सामने दो तरह के साहित्य थे, एक ऐसा साहित्य, जो जाति की जड़ता और ह्रास का प्रतिबिंब था और दूसरा वह जो जाति के उत्थान और प्रगति में सहायक था। वह इस दूसरी तरह के साहित्य के ही समर्थक थे; पहली तरह के साहित्य के वह विरोधी थे।

अगर ऐसे साहित्य को हम साहित्य कह सकते हैं जिस पर नश्वरता का रंग चढ़ा हो, जिसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हुआ हो, तो उसके रचने वाले ही को साहित्यकार कहने से क्या परहेज़ हो सकता है? लेकिन ऐसे साहित्यकार को प्रगतिशील कौन कहेगा? ज़्यादा-से-ज़्यादा यही कहा जा सकता है कि उसकी रचनाएँ सच्चा साहित्य नहीं हैं या वह सच्चा साहित्यकार नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द खुद उसकी रचनाओं को साहित्य संज्ञा दे चुके हैं। इसलिए एक तरफ जाति के ह्रास को प्रतिबिंबित करने वाले साहित्य का विरोध, दूसरी तरफ हर साहित्यकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानना—प्रेमचन्द की विचार-धारा में यह एक असंगति है। इससे प्रगतिशील साहित्य का वह विरोध करते थे—यह समझना भूल होगी।

प्रेमचन्द ने आगे कहा है कि "प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता।" इसलिए प्रेमचन्द ने प्रगति या उन्नति की अपनी व्याख्या भी दे दी है। वह इस प्रकार है—"उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।" एक तरफ़ दृढ़ता और कर्म-शक्ति, दूसरी तरफ़ शिथिलता और निराशा, एक तरफ़ दुःखावस्था की अनुभूति, दूसरी तरफ़ जनता को अफीम की घूँटी, एक तरफ़ जागरण और प्रगति, दूसरी तरफ़ निर्जीवता और ह्रास—प्रगतिशील साहित्य और प्रतिक्रियावादी साहित्य का यह भेद प्रेमचन्द के सामने मौजूद था। इसीलिए वह अपने "स्वभावतः प्रगतिशील साहित्यकार" के लिए कहते हैं—"उसका दर्द से भरा हृदय

इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठे किये जायँ कि वह ग़ुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में ज़ोर और सचाई पैदा होती है।" जो सज्जन साहित्यकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानते हैं, अपने दिल पर हाथ रखकर देखें, सामाजिक अन्याय को देखकर कहीं उसमें गर्मी पैदा होती है ? अपने अमल को देखकर सोचें, ग़ुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पाने के लिए वह कोई सामान जुटा रहे हैं ?

प्रेमचन्द की साफ़ आवाज सुनिये—"हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं।" प्रेमचन्द की सलाह मानने वाले लेखकों का क्या यह फ़र्ज़ नहीं है कि वे निरर्थक भावों वाली कविता का विरोध करें, सार्थक भावों वाली कविता की तरफ़दारी करें ? लेकिन निरुद्देश्य साहित्य के समर्थक ऐसा विराट् संयुक्त मोर्चा बनाते हैं कि उसमें निरर्थक और सार्थक भाव सब घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। प्रेमचन्द ऐसी कला की माँग करते हैं "जिसमें कर्म का सन्देश हो।" वह सौन्दर्य को सापेक्ष बतलाते हुए कहते हैं कि "एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है।"इसलिए वह सुन्दरता की कसौटी को बदलने की बात कहते हैं। वह अमीरों पर निर्भर रहने वाले कलाकारों की निन्दा करते हैं। वह कला के वर्गगत आधार की तरफ़ इशारा करते हुए कहते हैं—"कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का।" ऐसे कला के रचने वालों को कौन प्रगतिशील कहेगा ? प्रेमचन्द कहते हैं कि जो सुन्दरता साधारण जनता में है, उसकी तरफ़ इस ज़माने के कलाकार को ध्यान देना चाहिए।

प्रेमचन्द साहित्यकार से यही माँग नहीं करते कि वह साहित्य रचे,

वह उसे संघर्ष के मैदान में उतरने की दावत भी देते हैं। वह कहते हैं—"हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हज़ारों आदमी कुछ अत्याचारियों की ग़ुलामी करें, तभी हम केवल काग़ज़ के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न रह जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे जो सौंदर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।" यहाँ पर उन्होंने कर्म और वचन की एकता के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। साहित्य के विकास की एक यह नई दिशा थी। साहित्यकार से एक नई माँग की गई थी कि वह जो-कुछ लिखे, जीवन में उस पर अमल करके भी दिखलाय।

इसलिए प्रेमचन्द समाज में साहित्यकार को बहुत ऊँची जगह देते हैं। वह महफ़िल जुटाने वाला नहीं है, न वह दूसरों के पीछे चलने वाला खेमा-बरदार है। वह समाज का नेता और पथ-प्रदर्शक है। उनके स्मरणीय शब्द हैं—"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली इकाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" इस तरह का साहित्यकार ही सही मानो में प्रगतिशील होता है। प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू के देश-भक्त लेखकों से ऐसा ही साहित्यकार बनने की अपील कर रहे थे। वह उनसे कह रहे थे कि उठकर समाज में अपनी सम्मानपूर्ण जगह हासिल करो। अहंवाद और व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए उन्होंने साहित्य के सामाजिक पक्ष पर ज़ोर दिया। उन्होंने साहित्यकार की अपनी शिक्षा पर ज़ोर दिया जिससे वह जनता की और ज्यादा सेवा कर सके। उन्होंने साहित्य के मंदिर में आने के लिए उन लोगों का आह्वान किया जिनके दिल में दर्द हो और मुहब्बत का जोश हो।

अन्त में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्देश्यों के बारे में उन्होंने कहा—"हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावे-

दार है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मंडल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायुमण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।"

प्रेमचन्द संगठन के महत्त्व को समझते थे। इसीलिए उन्होंने संगठित होकर नये रास्ते पर बढ़ने का आदेश दिया था। वे चाहते थे कि इस तरह की परिषदें जगह-जगह स्थापित हों। वहाँ पर आलोचना-प्रत्यालोचना से, रचनात्मक प्रवृत्तियों की चर्चा से हिन्दी-साहित्य में एक नया युग आय। प्रगतिशील लेखकों ने बहुत हद तक प्रेमचन्द के इस आदेश को पूरा किया है।

प्रगतिशील साहित्य देश की स्वाधीनता और जनतंत्र का साहित्य है। सन् '३० ही में प्रेमचन्द ने कहा था कि उनकी रचनाओं का ध्येय स्वाधीनता-प्राप्ति है। अपने अमल से उन्होंने तमाम साहित्यकारों को प्रेरणा दी थी कि वे भी स्वाधीनता-प्राप्ति को अपनी रचनाओं का लक्ष्य बनायें। साथ ही स्वाधीनता का मतलब 'जॉन' की जगह 'गोविन्द' को बिठाना नहीं था। वह देश में एक नये ढंग का जनतंत्र चाहते थे, जिसमें शक्ति आम जनता के हाथ में हो। इसीलिए उन्होंने किसानों की समस्या को इतने तीखे ढंग से उठाया था और किसानों की लड़ाई को स्वाधीनता-आन्दोलन का अभिन्न अंग बना दिया था। देश पूरी आजादी और नये जनतंत्र को हासिल करने के लिए किस रास्ते पर आगे बढ़े, किन उपायों से काम ले, इसके बारे में प्रेमचन्द की सूझ-बूझ की एक झलक हम 'गोदान' में देख चुके हैं। वह उस रास्ते की तरफ़ आ रहे थे जिस पर जनता का विशाल संयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद से अपने हक़ लेने के लिए आगे बढ़ता है। इस संयुक्त मोर्चे में मजदूरों और किसानों की एकता प्रमुख शक्ति है, इसकी झलक वह मेहता के चरित्र में देते हैं, जो मजदूरों के जीवन में भाग लेता है और किसानों से भी अपना सम्बन्ध क़ायम करता है। वह संघर्ष के पुराने तरीकों को

नाकाफ़ी समझते थे, यह बात उनके आखिरी उपन्यास 'मंगल सूत्र' से ज़ाहिर होती है। उन्होंने किसानों-सम्बन्धी प्रायः अपने सभी उपन्यासों में दिखलाया था कि विदेशी हुकूमत हिन्दुस्तान की जनता को खूनी आतंक के ज़रिये दबाती है। 'कर्मभूमि' में उन्होंने इस आतंक का नग्न रूप दिखलाया था। इस आतंक को कैसे खत्म किया जाय, इसी समस्या को हल करने के लिए उन्होंने मानो 'मंगल सूत्र' की रचना की थी। यद्यपि यह उपन्यास पूरा नहीं हुआ, फिर भी उसमें प्रेमचन्द की यह धारणा साफ़ झलकती है कि बुद्धिजीवियों को जनता का साथ देना चाहिए और साम्राज्यवादी पशुओं के साथ दया का व्यवहार न करके उनके शासन को ख़त्म कर देना चाहिए।

फिर भी सन् '३६ तक हिन्दुस्तान की जनता का एका काफ़ी मज़बूत नहीं हुआ था और स्वाधीनता-आन्दोलन में बहुत सी ख़ामियाँ थीं। तब तक मज़दूर-वर्ग संगठित होकर तमाम जनता के आन्दोलन की अगुवाई करने के लिए आगे न आया था। यह कमज़ोरी प्रेमचन्द की रचनाओं में झलकती है। 'मंगल सूत्र' का नायक लगभग अकेला है; 'गोदान' का होरी अकेला जीवन-संग्राम में जूझकर प्राण दे देता है। प्रेमचन्द ने सामन्ती परम्पराओं का विरोध किया; पूँजीवादियों द्वारा साहित्य के नेतृत्व करने का भी विरोध किया। प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन हिन्दुस्तान के पिछले सभी साहित्यिक आंदोलनों से भिन्न था; वह पुरानी साहित्यिक परंपरा की अगली कड़ी ही न था बल्कि एक नये स्तर पर उस परंपरा का नया विकास था। इसका कारण यह था कि यह आन्दोलन एक नई वैज्ञानिक विचार-धारा से प्रभावित था। यह विचार-धारा मार्क्सवाद की थी। प्रगतिशील साहित्य की शक्ति का यह एक बड़ा कारण था। प्रेमचन्द के विचारों पर जहाँ-तहाँ इस वैज्ञानिक विचार-धारा की छाप दिखाई देती है लेकिन उसकी क्रान्तिकारी भूमिका, उसका युगान्तरकारी महत्त्व उनके सामने स्पष्ट नहीं था।

जिस नये साहित्य के सृजन और प्रचार के लिए प्रेमच्चन्द आन्दोलन

है, उसकी संस्कृति बनाई है। अदीब ही क़ौम का पथ-प्रदर्शक होता है। उसका दिल प्रेम की ज्योति से भरा होता है। उसमें तास्सुब और तंगखयाली के लिए जगह नहीं होती। आज युद्धवाद से लड़ने वाले कौन लोग हैं? यही अदीब। ऐसी कौन सी क्रान्ति है, जिसका बीजारोपण अदीबों ने न किया हो।"

युद्धवाद का विरोध करने वाले लेखकों का ज़िक्र करके प्रेमचन्द ने उनसे हिंदुस्तान के स्वाधीनता-प्रेमी लेखकों का संबंध जोड़ा है। वह दिन-पर-दिन दुनिया की जनता का और जनता के लेखकों का भाईचारा मज़बूत होता हुआ देख रहे थे। इसीलिए बीमारी की हालत में वह गोर्की की शोक-सभा के लिए भाषण लिख रहे थे। जब उनकी पत्नी ने कहा—"वह कौन हिन्दुस्तानी थे?" तब प्रेमचन्द ने जवाब दिया—"गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके बारे में देश या जाति का सवाल ही पैदा नहीं होता।" और जब सभा से लौटकर आये तब कहा "कमज़ोरी आये या चाहे जो कुछ। कहीं इस तरह बैठा जाता है?" प्रेमचन्द के लिए मशहूर है कि वह भीड़-भाड़ और जलसों से दूर रहते थे लेकिन अपने अन्तिम दिनों में एक नया जोश उन्हें रोग-शय्या से उठाकर सभाओं में ले जाता था। वह जिस कर्मठता का प्रचार कर रहे थे, अपने जीवन में स्वयं उसका आचरण भी कर रहे थे।

प्रेमचन्द ने साहित्यकारों के लिए लिखा था कि उन्होंने क़ौम की तारीख बनाई है, उसकी संस्कृति बनाई है। प्रेमचन्द किस क़ौम की तारीख बनाने वाले साहित्यकार थे? वैसे तो उनके साहित्य का आदर सारे हिन्दुस्तान में हुआ है लेकिन वह खास तौर से हिन्दी-भाषी जाति के लेखक थे। वह हिन्दुस्तानी क़ौम की तारीख बनाने वाले साहित्यकार थे। उन्होंने हिन्दी और उर्दू दोनों ही में रचनाएँ कीं। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को नज़दीक लाने में, हिन्दी और उर्दू के सामन्ती साहित्य का मुक़ाबला करने में, हिन्दी और उर्दू के नये साहित्य में आज़ादी और जनतंत्र के भाव और विचार भरने में प्रेमचन्द ने हमारी जाति की अद्वितीय सेवा की है। तुलसीदास के बाद हिन्दी के वह सबसे बड़े साहित्यकार थे जिन्हें हमारी क़िसान-जनता ने

अपनाया। जहाँ-जहाँ हिन्दी-उर्दू पढ़ने वालों ने प्रेमचन्द की रचनाओं में रस लिया, वहाँ-वहाँ जातीय एकता का भाव और मज़बूत हुआ।

हिन्दुस्तानी क़ौम की एकता में हिन्दी-उर्दू का विवाद एक बहुत बड़ी बाधा बना हुआ था। प्रेमचन्द इनके लिखने वालों को दो क़ौमों का लेखक न मानते थे। वह उन्हें नज़दीक लाना चाहते थे जिससे कि एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा का चलन हो सके। दिल्ली में हिन्दुस्तानी सभा [illegible] होने पर उन्होंने उसका स्वागत किया था, क्योंकि उसमें हिन्दी और उर्दू के लेखक एक साथ बैठते और बहस करते थे। हिन्दी-उर्दू के लेखकों का परस्पर मिलना-जुलना और एक साथ भाषा और साहित्य की समस्याओं पर विचार करना उनकी नज़रों में कितना ज़रूरी था, यह 'हिन्दुस्तानी सभा' पर उनकी टिप्पणी से ज़ाहिर होता है। इसमें उन्होंने लिखा था—"जब उर्दू का एक अदीब अपनी कोई रचना ऐसे समाज के सामने पढ़ेगा, जिसमें हिन्दी के लेखक भी शरीक हैं, तो वह ऐसी भाषा लिखने की कोशिश करेगा, जो हिन्दी वालों की समझ में आय। इसी तरह हिन्दी का लेखक उर्दू के अदीबों की मण्डली में अपनी भाषा को सुबोध रखने पर मजबूर होगा।" इस तरह के परस्पर प्रभाव और आदान-प्रदान से वह एक मिली-जुली साहित्यिक शैली के विकास की आशा करते थे।

इस तरह के प्रयोग की सफलता एक दूसरी बात पर भी निर्भर है और वह यह कि इस तरह की सभाओं में शामिल होने वाले लेखक किस हद तक जनता के लिए लिखते हैं और किस हद तक अपने जीवन में जनता के नज़दीक हैं। जनता के लिए न लिखने पर साहित्यकार उसी पुरानी लफ्फ़ाजी और उन्हीं पुराने अलंकारों की दुनिया में चक्कर लगाता रहता है और तब हिन्दी और उर्दू के लेखक एक दूसरे से सीखने के बदले एक दूसरे के कठिन शब्दों को ढूँढ़ने में लग जाते हैं। एक मिली-जुली साहित्यिक भाषा के ज़रिए क़ौम की सेवा करने और उसको संगठित करने का सवाल पीछे पड़ जाता है। जहाँ पर हिन्दी-उर्दू-लेखकों के मिलकर काम करने और सभाएँ चलाने के काम पूरी तरह सफल नहीं हुए, वहाँ असफलता का मुख्य कारण जनता से

लेखकों के अलगाव को समझना चाहिए।

एक साहित्यिक शैली गढ़ने के पक्ष में होते हुए भी प्रेमचन्द उसे गढ़ने की कठिनाइयों को जानते थे। 'भारतीय साहित्य परिषद्' में हिन्दुस्तानी को जगह न देने पर मौलाना अब्दुल हक़ की आलोचना का जवाब देते हुए उन्होंने जून सन् '३६ के 'हंस' में लिखा था—"और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है, वह भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप खड़ा नहीं कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो, जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोल-चाल की हो।"

इससे नतीजा यही निकलता था कि एक मिली-जुली साहित्यिक शैली के लिए वक्त की जरूरत थी। हिन्दी को बहुत ज़्यादा संस्कृतमय और उर्दू को फ़ारसी-अरबीमय बनाने का विरोध करना सही था लेकिन हिन्दी और उर्दू की जो दो शैलियाँ चल रही थीं, उन्हें एकाएक छोड़ा नहीं जा सकता था। प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखते थे और उनकी हिन्दी-उर्दू में भेद भी रहता था। इस पर कुछ लोगों ने उन पर यह तोहमत लगाई कि वह मुँह से तो हिन्दुस्तानी की हिमायत करते हैं, अमल से हिन्दी का प्रचार करते हैं।

'हंस' के 'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' में श्री अशफाक हुसेन ने एक दिलचस्प घटना का ज़िक्र किया है। "अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अखबार निकलता है। उसमें छपने के लिए प्रेमचन्द जी ने अपनी दो रचनाएँ भेजी थीं, जिनमें से एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचन्द के बारे में बहुत सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दी वाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दू वाली रचना में उससे भी अधिक फ़ारसी के शब्द थे। इसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था

कि "प्रेमचन्द जी दो-रुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ़ मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ़ से अच्छे बने रहना चाहते हैं।"

अगर प्रेमचन्द का यह दावा होता कि हिन्दी-उर्दू का बायकाट करके तुरंत हिन्दुस्तानी रायज की जा सकती है, तो शायद इस आलोचना में कुछ तथ्य होता। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द हवाई-सिद्धान्त-कार नहीं थे; वह अमल में तुरंत एक मिली-जुली भाषा-शैली ईजाद करने की कठिनाइयों को जानते थे। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों में कुछ हेर-फेर के साथ लिखने की उनकी नीति सही थी; बोल-चाल की क़ौमी ज़बान हिन्दुस्तानी का समर्थन करना भी ठीक था।

'प्रेमचन्द-स्मृति-अंक' में श्री मोहम्मद आक़िल ने इस तरह की दूसरी घटना का ज़िक्र किया है। "इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साक़ी' ने जो तनक़ीद की थी कि प्रेमचन्द जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं, उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साक़ी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ जिन्दा हूँ बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ।" प्रेमचन्द उन थोड़े से लेखकों में थे जिनमें हिन्दी-उर्दू को लेकर बढ़ा-चढ़ी का भाव नहीं था। यह भाव तब पैदा होता है जब लेखक के दिमाग़ में हिन्दी-उर्दू के पीछे हिन्दुस्तानी क़ौम नहीं होती बल्कि हिन्दू धर्म और इस्लाम होता है। प्रेमचन्द ने अपने अमल से दिखलाया कि साहित्य का जातीय रूप समृद्ध करने से, उसमें जनवादी विचारों का समावेश करने से भाषा की समस्या हल करने में मदद मिलती है। प्रेमचन्द के जल्दबाज़ आलोचक, जो तुरंत हिन्दुस्तानी रायज करना चाहते थे, इस दिशा में ऐसा कोई बड़ा काम नहीं कर पाए।

प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा और हिन्दुस्तानी के संबंध में जो भाषण दिये थे, उनमें एक तरफ़ तो साम्राज्यवादियों की ग़ुलामी के हर रूप से बेहद नफ़रत जाहिर होती है, दूसरी तरफ़ हर जगह उनका यह दृढ़ विश्वास भी ज़ाहिर होता है कि हिन्दी और उर्दू एक ही क़ौम की ज़बान हैं और इनका एक होना लाज़मी है। प्रमचन्द ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया था कि हिन्दुस्तान की तमाम भाषाओं के साथ और ख़ास करके यहाँ की पिछड़ी हुई

जातियों की भाषा के साथ अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने किस तरह के जुल्म किये हैं। कभी-कभी उन्हें हिन्दुस्तान में बहुत सी भाषाओं का होना क़ौमी तरक़्क़ी में अड़चन डालता हुआ दिखाई देता था। वह सारे हिन्दुस्तान मे एक क़ौम और एक क़ौमी ज़बान का सपना देखते थे। वह हिंदुस्तान को एक मज़बूत, स्वाधीन और सुखी राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, लेकिन इस एकता को क़ायम करने के लिए वह एक क़ौमी ज़बान और सारे देश मे एक कौम और संस्कृति के अलावा दूसरा रास्ता न देखते थे। हिन्दुस्तान एक बहुजातीय देश है। यहाँ बंगाली, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि बहुत सी जातियां हैं, उनकी अपनी-अपनी भाषाएँ हैं। हालाँकि उनकी संस्कृतियों में बहुत सी बातें एक-सी हैं, फिर भी जातीय संस्कृतियाँ अलग-अलग हैं, उनके रूप अलग-अलग हैं। इन जातियों की तादाद कम होने वाली नहीं है, क्योंकि बहुत सी पिछड़ी हुई जातियाँ अभी रंगमंच पर आई नहीं हैं। परस्पर भाईचारे और बराबरी की सतह पर एक दूसरे की मदद करने के आधार पर ये सब जातियाँ मिलकर हिन्दुस्तान को एक मज़बूत राष्ट्र बना सकती हैं। सारे देश में एक क़ौमी ज़बान, एक क़ौमी संस्कृति रायज करने की कोशिश से वह मज़बूती और एकता क़ायम नहीं हो सकती। अन्तर्जातीय व्यवहार के लिए हिन्दी का प्रयोग दूसरी बात है।

प्रेमचन्द को देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेजी भाषा की प्रभुता खलती थी। यह उनकी साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय चेतना, उनके आत्म-सम्मान की भावना का ज़बरदस्त सबूत था। किसी ने साम्राज्यवादियों की अंग्रेजी लादने की नीति के खिलाफ़, बुद्धिजीवियों में इस नीति के सामने सिर झुकाने की नीति के खिलाफ इतने रोष और तर्क के साथ बग़ावत न की थी, जैसे प्रेमचन्द ने। सन् '३४ में बंबई के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने पशुओं और मनुष्यों में यह भेद बतलाया कि मनुष्य भाषा इस्तेमाल करते हैं, पशु नहीं करते। "समाज की बुनियाद भाषा है।" इस महत्त्व की जगह से अंग्रेज़ी यहाँ की भाषाओं को हराने की कोशिश करती रही थी। सारे देश के लोग आपस में किस भाषा का व्यवहार करें, इस बारे

में नेताओं वग़ैरह की उदासीनता का ज़िक्र करते हुए उन्होंने इस सम्मेलन में कहा था—"इस लापरवाही का ख़ास सबब है—अंग्रेज़ी ज़बान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म सम्मान की वह कमी, जो ग़ुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती।"

प्रेमचन्द ने जैसे 'सेवा सदन' में नारी के आत्म-सम्मान को सूत्र रूप से पकड़ लिया था, वैसे ही उनके भाषा-संबंधी व्याख्यानों में राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की भावना सूत्र की तरह मौजूद है। अपने देश के काम-काज में दूसरों की भाषा इस्तेमाल करना—वह भी साम्राज्यवादी शासकों द्वारा लादी हुई भाषा का इस्तेमाल करना—कितनी बड़ी गुलामी है, कितना बड़ा राष्ट्रीय अपमान है, इस बात को कम लोग समझते हैं। किसी भी देश और जाति की उन्नति में यह आत्म-सम्मान की भावना जनता में जोश भर देती है, उसे संगठित होकर नये-नये मोर्चे फतह करने में बेहद मदद देती है। प्रेमचन्द का स्वाभिमान यह देखकर तिलमिला उठता था कि ग़ुलाम देश के बुद्धिजीवी अपने मालिकों की भाषा पर अभिमान करते हैं। अंग्रेज़ी भाषा के प्रभुत्व को उन्होंने साम्राज्यवादी प्रभुत्व का ही अटूट हिस्सा बतलाते हुए कहा था—"अंग्रेज़ी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज़्यादा अंग्रेज़ी भाषा का है। अंग्रेज़ी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बग़ावत करते हैं; लेकिन अंग्रेज़ी भाषा को आप ग़ुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं।"

प्रेमचन्द के इन उचित क्रोध से भरे हुए वाक्यों के सामने कोई दलील कारगर नहीं हो सकती। सवाल है,राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का। कौन सा देश, जो स्वाधीन है या स्वाधीनता के लिए लड़ रहा है, हमारी तरह दूसरों की ज़बान को अपने राज-काज की ज़बान बनाये हुए है ? प्रेमचन्द ने उन लोगों को कड़ी फटकार बतलाई थी जो इस ग़ुलामी पर नाज़ करते थे। उन्होंने तमाम अंग्रेज़-भक्तों पर घड़ों पानी उँडेलते हुए कहा था—"अंग्रेज़ी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं; लेकिन अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है;

उसके बग़ैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेज़ीदाँ और गैर-अंग्रेजीदाँ का भेद है। अंग्रेज़ीदाँ आर्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत कुछ अख्तियार है, रौब है, सम्मान है; ग़ैर-अंग्रेज़ीदाँ अनार्य है और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है।" प्रेमचन्द ने भारत के अंग्रेज़ी-प्रेमी आर्यों के लिए ये शब्द अठारह साल पहले कहे थे। उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ। नश्तर की तरह अन्तस्तल को छूकर वह हमारे सोते हुए राष्ट्रीय आत्म-सम्मान को जगा देते हैं।

प्रेमचन्द ने इन अंग्रेज़ी-भक्तों की सबसे बड़ी कमज़ोरी पकड़ ली थी–जनता से उनकी दूरी। जितना ही ये लोग जनता से दूर थे, उतनी ही प्रेमचन्द को जनता में ज़बरदस्त आस्था थी। प्रेमचन्द के इन शब्दों को याद करके हमें अपने स्वाभिमानी साहित्यकार प्रेमचन्द पर गर्व होता है– "और जनता को आप जो चाहें इलज़ाम दे लें, वह बेवकूफ़ नहीं है। आपने समझदारी का जो तराज़ू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरे; लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज़्यादा समझदार है।" जनता में यह दृढ़ विश्वास लिये हुए प्रेमचन्द अपने जमाने के तमाम राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों से ऊपर उठे हुए नज़र आते हैं। जब और सभी लोग जनता के पिछड़ेपन और अशिक्षा का रोना रो रहे थे, तब यह मनस्वी लेखक अपने देश की महान् जनता के सामने सिर झुकाकर उससे कुछ सीखने के लिए आगे आता था। नई पीढ़ी के लिए प्रेमचन्द की यह बहुमूल्य शिक्षा है—जनता में विश्वास रखो; जनता से सीखो।

जनता के लिए प्रेमचन्द के दिल में जहाँ इतनी इज्जत थी, वहाँ यह भी देखते ही बनता है कि वह जनता के कर्णधारों से किस शैली में बात करते हैं। दिसंबर सन् '३४ में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के अधिवेशन में उन्होंने कहा था–"जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और

फ़तह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूँगा कि हज़रत, इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयेंगे और निकल जायेंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे; लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें; लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी भी परवाह न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जायँ, जिससे आप की चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े।"

प्रेमचन्द के इन शब्दों से जाहिर होता है, कितने निडर होकर वह जनता के पक्ष का समर्थन करते थे, कितनी गहराई से वह नकली और असली देश-भक्ति को परख रहे थे, कैसे मर्मबेधी वाक्यों से वह दंभी और पाखंडी मनुष्यों के कवच तोड़कर रख देते थे। अंग्रेज माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े, इसलिए वह खिलौने और मिठाइयाँ दे देंगे—मालूम होता है, ये वाक्य उन्होंने आज ही कहीं कहे हैं, उनकी ताजगी में इतना कम फ़र्क़ आया है।

प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू को एक जबान मानते थे। राष्ट्रभाषा-सम्मेलन वाले भाषण में उन्होंने हिन्दी-उर्दू का भेद संस्कृत और फारसी शब्दों के प्रयोग पर निर्भर बतलाया था। अंग्रेजी की मिसाल देते हुए उन्होंने कहा था कि उसमें लैटिन, ग्रीक या एंग्लो सैक्सन शब्दों की बहुतायत से भाषा नहीं बदल जाती, वैसे ही फ़ारसी या संस्कृत शब्दों की बहुतायत से हिन्दुस्तानी भाषा भी नहीं बदल जाती। इस भाषण में उन्होंने हिन्दी की बोलियों के स्वभाव की तरफ ध्यान दिलाया था, किस तरह वे संस्कृत शब्दों को ज्यों-का-त्यों नहीं लेतीं। उन्होंने इस कुतर्क का जोरों से खंडन किया कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार करने से वह सभी प्रान्तों के लोगों के लिए आसान हो जायगी। प्रेमचन्द ने सर्व श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के लिए सन् '३४ ही में कह दिया था—"ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें; लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझेंगे।" उन्होंने फारसी के लिए भी कहा था कि उसे देशी उच्चारण के अनुकूल बनना पड़ेगा

और उसके शब्दों में जो शीनक़ाफ़ की क़ैद लगी हुई है, उसे ढीला करना होगा। वह हिन्दी-उर्दू को उच्च वर्गों के हाथ से छीनकर जन साधारण के काम-काज में डालकर उसे एक कर देना चाहते थे जो वह वास्तव में पहले से ही थी, सिर्फ साहित्य में उसकी यह एकता पनप न पाई थी।

हिन्दी-उर्दू की बुनियादी एकता के बारे में प्रेमचन्द कहते हैं—"हमारे सूबे के देहातों में रहने वाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गए हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान ही बोलते हैं। बोल-चाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोल-चाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोल-चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही हैं।"

यहाँ पर प्रेमचन्द ने इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त का खंडन किया है कि भाषा का आधार धर्म है और इसलिए हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है और मुसलमानों की भाषा उर्दू है। प्रेमचन्द की यह धारणा बालमुकुन्द गुप्त-जैसे जनवादी लेखकों के विचारों के अनुकूल थी। उन्होंने धर्म के नाम पर भाषा और क़ौम का बँटवारा करने वाले साम्राज्यवादी और सामन्ती भाषा-वैज्ञानिकों के मत का खंडन किया और हिन्दुस्तानी जाति की भाषा और संस्कृति के विकास में बहुत बड़ी मदद दी। इस जाति की भाषा के लिए वह देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में उन्होंने कहा था—"प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जायँ, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है; इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है; बल्कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता।"

यहाँ पर प्रेमचन्द ने बहस और झगड़े की जड़ की तरफ़ इशारा किया

हैं—शब्दों का चुनाव, फ़ारसी से या संस्कृत से। जो लोग इस मूल झगड़े को भूलकर हिन्दी-उर्दू-विवाद को लिपि का विवाद समझ बैठते हैं, उन्हें प्रेमचन्द ने सचेत किया है। शब्दों के चुनाव के बारे में वह जानते थे कि संस्कृत और फ़ारसी के बहुत से शब्द घुल-मिलकर क़ौमी जबान में एक हो जायँगे लेकिन लिपियाँ तो घुल-मिलकर एक नहीं हो सकतीं। उन दो लिपियों में से एक लिपि चुनी ही जायगी। प्रेमचन्द की राय थी—और सही राय थी कि यह लिपि देवनागरी होनी चाहिए। साथ ही वह उर्दू लिपि का व्यवहार करने वालों को इस बारे में पूरी आजादी देना चाहते थे जिससे कि वे स्वेच्छा से अपनी कौमी जबान के लिए एक लिपि की जरूरत को समझकर उसे अपना सकें।

साहित्यिक भाषा को एक करने की जिम्मेदारी प्रेमचन्द ने साहित्यकारों पर डाली थी। लाहौर के 'आर्य भाषा सम्मेलन' में उन्होंने इस विषय में राजनीतिक नेताओं की ग़फ़लत पर उन्हें कड़ी फटकार बतलाई थी। अंग्रेजों की नकल करने वालों के लिए उन्होंने कहा—" वह इतनी बलंदी पर पहुँच गए हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती।" बुद्धिजीवियों से उन्होंने कहा था—"Intelligensia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता ही से आता है।" जनता से साहित्यकार ताक़त पाता है, इसलिए अपनी ताकत पहचानकर प्रेमचन्द ने उसे जातीय पुनर्जीवन के काम में आगे बढ़ने के लिए निमंत्रित किया। साहित्य के लिए उन्होंने उसी लाहौर वाले भाषण में कहा—"साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरुचि से होता है।"

हिन्दी-उर्दू को एक करने, क़ौमी भाषा और संस्कृति का नया विकास करने की जिम्मेदारी प्रेमचन्द अगली पीढ़ी पर छोड़ गए थे। उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर ही हम उस जिम्मेदारी को पूरा कर सकते हैं।

युग-निर्माता प्रेमचन्द

प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन के पहले अधिवेशन में सभापति-पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने साहित्यकार के लिए कहा था कि "वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"

प्रेमचन्द ऐसी ही सचाई थे। देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई। केवल महफिल सजाने और मनोरंजन का सामान जुटाने वाले साहित्यकार हर्गिज नहीं। वह एक युग-निर्माता साहित्यकार थे, केवल साहित्य में युग को नाम देने वाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक जीवन को एक नई गति और एक नई दिशा प्रदान करने वाले। जिस समय विधवा-विवाह को भी एक क्रांतिकारी सुधार समझा जाता था उस समय नारी-मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवा सदन' लिखा और वेश्या-वृत्ति के सामन्ती आधार को उघारकर पाठकों के सामने रख दिया। जिस समय जलियानवाला बाग़ और रौलट-एक्ट से भारत का पद्-दलित आत्म-सम्मान जाग उठा था, उस समय प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' लिखकर किसानों पर अंग्रेजी राज्य और उसके दलालों के अत्याचार दिखाकर बतलाया कि स्वाधीनता-आन्दोलन को पूरी ताकत इनकी समस्याओं को लेकर आगे बढ़ने से मिलेगी। जिस समय देश में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आन्दोलन न चल रहा था, प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में दिखलाया कि जनता अब भी लड़ रही है, वह हारी नहीं है, वह जीतेगी। 'गोदान' में उन्होंने पढ़े-लिखे नौजवानों और किसानों की एकता की तरफ संकेत किया और किसानों के महाजनी शोषण का चित्र खींचा, जिसे किसान-आन्दोलन में तब जगह न दी गई थी। उन दिनों जब मन्दिर-प्रवेश को अछूत-समस्या हल करने का सबसे बडा

साधन माना जाता था; उन्होंने 'कर्मभूमि' में अछूत किसानों और खेत-मजदूरों की भूमि-समस्या पर दृष्टि केंद्रित की और उसमें लगानबन्दी की लड़ाई को उनकी मुख्य लड़ाई बताया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जो संघर्ष, स्वाधीनता-आन्दोलन के जो रूप दिखाये, वे सब हमारे सामने आये। यह इस बात का सबूत है कि वह देश-भक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई थे।

प्रेमचन्द भविष्य-द्रष्टा थे। उन्होंने 'गबन', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प' 'रंगभूमि', तथा 'गोदान' में ऐसे देश-भक्तों का रूप दिखाया जो वक्त आने पर जनता से विश्वास-घात कर जाते थे, जिनके लिए अपना हित, अपने मालिकों का हित जनता के हितों से बढ़ कर था। प्रेमचन्द ने इन पात्रों के द्वारा जनता के महान् शिक्षक का काम किया; उसकी चेतना को निखारने में बहुत बड़ा योग दिया।

प्रेमचन्द किसी पार्टी के साथ नहीं थे। वह मानो किसी आने वाली पार्टी का इन्तजार कर रहे थे, जो जनता में नई राजनीतिक चेतना फैलाये। उन्होंने मुन्शी दयानारायण निगम को लिखा था—"आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ, मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेंबर हूँ, जो अवामअलनास (जन साधारण) की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल-अमल (विधान) बनाएगी।" (हंसराज 'रहबर' द्वारा 'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' में उद्धृत)।

यह पत्र उन्होंने सन् '२३ में लिखा था। सात साल बाद 'विशाल भारत' में उन्होंने घोषित किया था—हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च-कोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ; लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही हो।"

प्रेमचन्द कलाकार की तटस्थता में विश्वास न करते थे। जो आदमी लहरों में खुद न तैरेगा, वह पानी में कूदने के लिए दूसरों को उत्साहित क्या करेगा? प्रेमचन्द जनता के दुःख-सुख में भाग लेने वाले कलाकार थे।

इसीलिए उनकी कथाएँ इतनी प्रभावशाली हैं।

वह एक यथार्थवादी कलाकार थे। वह जीवन की सचाई आँकना चाहते थे, जीवन के भ्रमों का खंडन करना चाहते थे। 'सेवा सदन' से 'गोदान' तक उन्होंने कथा-साहित्य में यथार्थवाद को इस तरह विकसित किया जिस तरह एक ही साहित्यकार बहुत कम कर पाता है। अपने यथार्थवाद से उन्होंने हिंदी-कथा-साहित्य के लिए वह राज-मार्ग बना दिया है, जिस पर नई पीढ़ी के लेखक निर्भय होकर आगे बढ़ सकते हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य बीसवीं सदी के हिंदुस्तान का सच्चा इतिहास है। हमारी जनता की सहृदयता, सहनशीलता और वीरता उनकी रचनाओं में फूल की तरह खिली हुई है। अंग्रेज़ों का बर्बर पुलिस-राज, खूनी आतंक और उनके मित्रों का जनता से विश्वास-घात उनकी रचनाओं में काले कुहरे की तरह छाया हुआ है।

हिंदुस्तान के लोग एक भरा-पूरा, सुखी, सुसंस्कृत समृद्ध जीवन बिताना चाहते हैं—यह साध उनकी रचनाओं में बार-बार झलकती है। इस साध को पूरा करने के लिए कैसा पराक्रम दिखाते हैं। इसकी कथा प्रेमचन्द का साहित्य है।

प्रेमचन्द नाटककार भी थे, लेकिन वहाँ उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली। वह एक सफल सम्पादक थे और 'हंस' के ज़रिये उन्होंने साहित्य-कारों की एक नई पीढ़ी को शिक्षित किया। 'मंगल सूत्र' में—जो उनका अधूरा और आखिरी उपन्यास है—उन्होंने एक साहित्यकार को ही नायक बनाया है जो 'गोदान' के मेहता की तरह देश-सेवा का व्रत लेता है। वह हिंदी-लेखकों से बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते थे जिन्हें पूरा करना नई पीढ़ी का कर्तव्य है। प्रेमचन्द को बीमारी की हालत में भी लिखते देखकर श्री जनार्दन राय ने उनसे कहा था—"यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा ?" और प्रेमचन्द ने जवाब दिया—"क्या होगा, मर ही तो जाऊँगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरूँगा भी।"

नहीं, प्रेमचन्द मरे नहीं हैं। उनकी आवाज़ हिंदी-भाषी प्रदेश की

जनता को आज भी एक कर रही है। उसे अपने कर्तव्यों की याद दिलाती हुई आगे बढ़ने के लिए हिम्मत दिलाती है। उनकी आवाज़ सुदूर दक्षिण तक पहुँचकर उत्तर और दक्षिण को नज़दीक लाती है। कलकत्ता और बम्बई के मज़दूर उनकी आवाज़ सुनकर एक दूसरे के पास आते हैं।

प्रेमचन्द की आवाज़ सुनकर हमें अपने देश और जनता पर गर्व होता है; उस जातीय संस्कृति पर गर्व होता है, जिसे प्रेमचन्द सँवार रहे थे। प्रेमचन्द की आवाज़ उस समय उठी थी जब पहले महायुद्ध में मानव-ध्वंसी तोपों की गड़गड़ाहट हवा में गूँज रही थी। आज भी जब विश्व पर तीसरे महायुद्ध के बादल छाये हुए हैं, उस स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक की वाणी विश्व-शान्ति की रक्षा के लिए जनता का आह्वान करती है। प्रेमचन्द की आवाज़ भारत की अजेय जनता की आवाज़ है। इसलिए प्रेमचन्द आज भी हमारे साथ हैं।